विवेक-ज्योति

वर्ष ४१ अंक ४ अप्रैल २००३ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अप्रैल २००३

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४१
अंक ४

वार्षिक ५०/- **एक प्रति ६/-**

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर

(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – ६

रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

एक दिन केशव चन्द्र सेन दक्षिणेश्वर आए। उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव से पूछा, "बहुत-से पण्डित शास्त्रों का समूचा पुस्तकालय ही पढ़ डालते हैं, तथापि उनमें आध्यात्मिक जीवन-सम्बन्धी इतना घना अज्ञान कैसे बना रहता है?" श्रीरामकृष्ण देव ने उत्तर दिया, "चील-गिद्ध बहुत ऊँचा उड़ते हैं, पर उनकी नजर मरे जानवरों की सड़ी लाश पर गड़ी रहती है। इसी प्रकार, अनेक शास्त्रों का पाठ करने के बावजूद इन तथाकथित पण्डितों का मन सदा सांसारिक विषयों में, कामिनी-कांचन में आसक्त रहता है; इसीलिए उन्हें ज्ञानलाभ नहीं होता।

"पण्डित खूब लम्बी लम्बी बातें तो करते हैं, परन्तु उनकी नजर कहाँ है? – कामिनी और कांचन पर – देह-सुख और रुपयों पर। गीध बहुत ऊँचे उड़ता है, परन्तु उसकी नजर मरघट पर ही रहती है। वह बस मुर्दे की लाश ही खोजता रहता है – कहाँ है मरघट और कहाँ हैं मरा हुआ बैल! जब देखता हूँ, पण्डित में विवेक और वैराग्य नहीं है, तब वे सब घास-फूस जैसे जान पड़ते हैं। तब यही दिखता है कि गीध बहुत ऊँचे उड़ रहा है, परन्तु उसकी नजर नीचे मरघट पर ही लगी हुई है। बहुत-से लोग ऐसे होते हैं, जो लम्बी लम्बी बातें करते हैं। कहते हैं, शास्त्रों में जिन सब कर्मों की बातें लिखी हैं, उनमें से अधिकांश की हमने साधना की है। परन्तु उनका मन घोर विषय में पड़ा रहता है। रुपया-पैसा, मान-मर्यादा, देह-सुख, इन्हीं सब विषयों के फेर में वे पड़े रहते हैं।

नीति-शतकम्

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवाः
न भेजिरे भीमविषेण भीतिम् ।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं
न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ।।८१।।

अन्वयः – देवाः महार्हैः रत्नैः न तुतुषुः, भीमविषेण भीतिम् न भेजिरे, सुधां विना विरामं न ययुः । धीराः निश्चितार्थात् न विरमन्ति ।

भावार्थ – देवतागण (समुद्र का मन्थन करते हुए) बहुमूल्य रत्नों को पाकर ही सन्तुष्ट नहीं हो गए और न ही भयानक विष के निकल आने पर भयभीत हुए। अमृत निकल आने तक उन्होंने मन्थन बन्द नहीं किया। (वैसे ही) धीर लोग अपना निश्चित संकल्प पूरा हो जाने तक पीछे नहीं हटते।

क्वचित् पृथ्वीशय्यः क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ।
क्वचित् कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ।।८२।।

अन्वयः – कार्यार्थी मनस्वी क्वचित् पृथ्वीशय्यः, अपि च क्वचित् पर्यङ्कशयनः, क्वचित् शाकाहारः, अपि च क्वचित् शाल्योदनरुचिः, क्वचित् कन्थाधारी, अपि च क्वचित् दिव्याम्बरधरः न दुःखं न च सुखं गणयति ।

भावार्थ – कार्य को पूरा करने का इच्छुक धीर व्यक्ति अपने मार्ग में आनेवाले दुख या सुख की परवाह नहीं करता। (जब जैसा मिल जाय, तदनुसार) कभी वह धरती पर सोता है, तो कभी पलंग पर; कभी वह कन्द-मूल खा लेता है, तो कभी अच्छे चावल का आस्वादन करता है; कभी वह गुदड़ी पहन लेता है, तो कभी श्रेष्ठ वस्त्र धारण करता है।

– भर्तृहरि

मातृ-वन्दना

– १ –

(बागेश्री-रूपक)

रख ले मातु अपने पास,
अब मिटा दे मम हृदय से, चिर दिनों की प्यास ।।

है नहीं सुख-शान्ति जग में,
फिर कभी भटकूँ न इसमें,
तू स्वयं मुझको उठाकर, दूर कर दुख-त्रास ।।

मोह माया का अँधेरा,
कौन जाने कब सबेरा,
प्रकट कर निज रूप आभा, हो तमस का नाश ।।

हों विमल मम प्राण-अन्तर,
वास कर उर में निरन्तर,
निरख आस्वादन करूँ मैं,
तेरी मधुमय हास ।।

– २ –

(यमन-त्रिताल)

सुन ले पुकार अबकी बार,
डूब रहा हूँ भवसागर में,
जननी अब तो मुझको उबार ।।

बीच भँवर में मेरी नैया,
ना संगी ना कोई खिवैया,
दिशाहीन मैं बहा जा रहा,
निज करुणा से कर दे पार ।।

भटक रहा हूँ जनम जनम से,
सुख दुख पाते भाग्य-करम से,
मिथ्या भव का छोड़ सभी कुछ,
आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार ।।

– *विदेह*

भगवान बुद्ध और उनका धर्म

स्वामी विवेकानन्द

भगवान बुद्ध ध्वंस करने नहीं आए थे, वरन् वे हिन्दू धर्म के परिपूरक और उसकी युक्तिसंगत परिणति तथा विकास थे।

मैं गौतम बुद्ध के समान नैतिक लोगों को देखना चाहता हूँ। वे सगुण ईश्वर अथवा व्यक्तिगत आत्मा में विश्वास नहीं करते थे, उस विषय में कभी प्रश्न हीं नहीं करते थे, उस विषय में पूर्ण अज्ञेयवादी थे, किन्तु जो सबके लिए अपने प्राण तक देने को प्रस्तुत थे – आजन्म दूसरों का उपकार करने में रत रहते तथा सदैव इसी चिन्ता में मग्न रहते थे कि दूसरों का भला कैसे हो। उनके जीवनीकारों ने ठीक ही कहा है कि उन्होंने **'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय'** जन्म ग्रहण किया था। वे अपनी निजी मुक्ति के लिए वन में तप करने नहीं गए। उनके समस्त जीवन में यही एक चिन्ता थी कि जगत् में इतना दु:ख क्यों है? दुनिया जली जा रही है और इसे बचाने का कोई उपाय मुझे खोज निकालना चाहिए।

बुद्धदेव एक महान् वेदान्ती थे, (क्योंकि बौद्ध धर्म वास्तव में वेदान्त की शाखा मात्र है) और शंकर को भी कोई कोई प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं। बुद्ध ने विश्लेषण किया था – शंकर ने उन सबका संश्लेषण किया है। बुद्ध ने कभी भी वेद या जाति-भेद या पुरोहित अथवा सामाजिक प्रथा – किसी के सामने सिर नहीं नवाया। जहाँ तक तर्क-विचार चल सकता है, वहाँ तक निर्भीकता के साथ उन्होंने तर्क-विचार किया है। इस प्रकार का निर्भीक सत्यानुसन्धान, प्राणिमात्र के प्रति इस प्रकार का प्रेम संसार में किसी ने कभी नहीं देखा।

बुद्धदेव के जन्म के पूर्व इस देश में क्या था? तालपत्र की पोथियों में कुछ धर्म तत्त्व था, सो भी बिरले ही मनुष्य उसको जानते थे। बुद्धदेव ने ही सिखाया कि लोग इसे व्यावहारिक जीवन में कैसे चरितार्थ करें। वे ही वास्तव में वेदान्त के स्फूर्ति देवता थे।

बुद्धदेव ने धर्म के प्राय: सभी अन्य पक्षों को कुछ काल के लिए दूर रखकर केवल दु:खों से पीड़ित संसार की सहायता करने के महाकर्म को प्रधानता दी थी। परन्तु स्वार्थपूर्ण व्यक्ति-भाव में आसक्ति की निरर्थकता के महान् सत्य का अनुभव करने हेतु आत्मानुसन्धान में उन्हें भी अनेक वर्ष बिताने पड़े। भगवान बुद्ध से अधिक नि:स्वार्थ तथा अथक कर्मी हमारी उच्च से उच्च कल्पना के भी परे है। परन्तु इसके बावजूद उनकी अपेक्षा और किसे समस्त विषयों का रहस्य जानने के लिए इतने विकट संघर्ष करने पड़े? यह चिरन्तन सत्य है कि जो कार्य जितना महान् होता है, उसके पीछे सत्य के साक्षात्कार की उतनी ही अधिक शक्ति विद्यमान रहती है।

भगवान बुद्ध के महान् सन्देश को सुनो। वह अनायास ही हृदय को छू लेता है। उन्होंने कहा है, "अपनी स्वार्थपूर्ण भावनाओं और स्वार्थपरता की ओर ले जानेवाली सभी बातों को निकाल डालो। स्त्री-पुत्र-परिवार आदि बन्धनों तथा सांसारिक प्रपंचो से दूर रहो और पूर्णत: नि:स्वार्थ बनो'। संसारी व्यक्ति मन-ही-मन नि:स्वार्थ बनने का संकल्प करता रहता है, पर पत्नी-मुख देखते ही उसका हृदय स्वार्थ से भर जाता है। माँ नि:स्वार्थ बनने की इच्छा करती है, पर पुत्र का मुख-अवलोकन करते ही उसके ये भाव लुप्त हो जाते हैं। सबकी यही दशा है। ज्योंही हृदय में स्वार्थपूर्ण कामानाओं का उदय होता है, ज्योंही व्यक्ति स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से कार्य शुरू करता है; त्योंही सम्पूर्ण मनुष्य, सच्चा मनुष्य लुप्त हो जाता है, वह पशु बन जाता है, वासनाओं का क्रीतदास बन जाता है। उसे अपने बान्धवों का विस्मरण हो जाता है और अब वह कभी नहीं कहता, 'पहले आप और तब मैं; अब उसके मुँह से निकलने लगता है, 'पहले मैं और मेरे बाद सब अपना अपना प्रबन्ध कर लें'।

पैगम्बरों में एकमात्र बुद्ध ही कहते थे, "मैं ईश्वर के बारे में तुम्हारे मत-मतान्तरों को जानने की परवाह नहीं करता। आत्मा के बारे में विभिन्न सूक्ष्म मतों पर बहस करने से क्या लाभ? **भला करो और भले बनो**। बस, यही तुम्हें निर्वाण की ओर अथवा जो भी कुछ सत्य है, उसकी ओर ले जाएगा।

उन्होने ही सर्वप्रथम साहसपूर्वक कहा था, "किसी बात पर केवल इसीलिए विश्वास मत कर लो कि उसे प्रमाणित करने हेतु कुछ प्राचीन पोथियाँ प्रस्तुत की जाती हैं; उसे इसलिए भी न मानो कि वह तुम्हारा जातीय विश्वास है अथवा बचपन से ही तुम्हें उस पर विश्वास कराया गया है; वरन् तुम स्वयं उस पर विचार करो और विशेष रूप से विश्लेषण करने के बाद यदि देखो कि उससे तुम्हारा तथा दूसरों का हित होगा, तभी उस पर विश्वास करो, तदनुसार जीवन बिताओ तथा दूसरों को भी उसके अनुसार चलने में सहायता करो।

ऐसे अन्य कई महापुरुष हुए, जिन्होंने स्वयं को ईश्वर का अवतार कहा और विश्वास दिलाया कि जो उनमें श्रद्धा रखेंगे, वे स्वर्ग प्राप्त कर सकेंगे, पर बुद्ध के अधरों पर अन्तिम क्षण

तक ये ही शब्द थे, 'अपनी उन्नति अपने ही प्रयत्न से होगी। अन्य कोई इसमें तुम्हारा सहायक नहीं हो सकता। स्वयं अपनी मुक्ति प्राप्त करो।'

बुद्ध अपने बारे में कहा करते थे, 'बुद्ध शब्द का अर्थ है – आकाश के समान अनन्त ज्ञान से युक्त। मुझ गौतम को यह अवस्था प्राप्त हो गई है। तुम भी यदि प्राणपण से प्रयत्न करो, तो उस स्थिति को प्राप्त कर सकते हो।

बुद्ध ने अपनी सब कामनाओं पर विजय पा ली थी। उन्हें स्वर्ग जाने की कोई लालसा न थी और न ऐश्वर्य की ही कोई कामना थी। अपने राजपाट तथा सभी सुखों को तिलांजलि देकर इस राजकुमार ने अपना सिन्धु-सा विशाल हृदय लेकर नर-नारी तथा जीव-जन्तुओं के हितार्थ, आर्यावर्त की गली गली में भ्रमण कर भिक्षावृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए अपने उपदेशों का प्रचार किया। जगत् में वे ही एकमात्र ऐसे हैं, जो यज्ञों में पशुबलि-निवारण के लिए, किसी प्राणी के जीवन की रक्षा के लिए अपना जीवन भी न्यौछावर करने को तत्पर रहते थे। एक बार उन्होंने एक राजा से कहा, "यदि किसी निरीह पशु की बलि देने से तुम्हें स्वर्ग-प्राप्ति हो सकती है, तो मनुष्य की बलि से और भी उच्च फल की प्राप्ति होगी। राजन्, उस पशु को मुक्त करके मेरी आहुति दे दो – शायद तुम्हारा अधिक कल्याण हो सके।' राजा स्तब्ध हो गया।

ईश्वर में विश्वास रखने से अनेक व्यक्तियों का मार्ग सुगम हो जाता है। परन्तु बुद्ध का चरित्र बताता है कि एक ऐसा नास्तिक व्यक्ति भी सर्वोच्च अवस्था प्राप्त कर सकता है, जो न किसी दर्शन में विश्वास रखता है, न किसी सम्प्रदाय को मानता है और न किसी मन्दिर-मस्जिद में ही जाता है और जो घोर जड़वादी है। बुद्ध के मत या कार्य-कलापों का मूल्यांकन करने का हमें कोई अधिकार नहीं। उनके विशाल हृदय का हजारवाँ अंश पाकर भी मैं स्वयं को धन्य मानता। बुद्ध की आस्तिकता या नास्तिकता से मुझे कोई मतलब नहीं। उन्हें भी वह पूर्णावस्था प्राप्त हो गई थी, जो अन्य जन भक्ति, ज्ञान, योग के मार्ग से प्राप्त करते हैं।

बोधिवृक्ष के नीचे बैठे बुद्धदेव ने दृढ़ स्वर में जो बात कहीं थी, उसे कहने का जिसमें साहस है, वही धार्मिक हो सकता है। जब मार उनके पास आकर कहने लगा – 'सत्य की खोज छोड़ दो! चलो, संसार में लौट चलो और पहले जैसा पाखण्डपूर्ण जीवन बिताओ, सभी वस्तुओं को उनके मिथ्या नामों से पुकारो, स्वयं से और सबसे दिन-रात झूठ बोलते रहो।' तब उन महावीर ने उसे परास्त करके कहा, 'अज्ञानपूर्वक केवल खा-पीकर जीने की अपेक्षा मरना ही अच्छा है; पराजित होकर जीने की अपेक्षा युद्धक्षेत्र में मरना ही श्रेयस्कर है।'

बुद्ध ने द्वैतवादी देवता, ईश्वर आदि की जरा भी चिंता नहीं की और जिन्हें नास्तिक तथा भौतिकवादी कहा गया है, वे एक साधारण बकरी तक के लिए प्राण देने को प्रस्तुत थे! उन्होंने मानव-जाति में सर्वोच्च नैतिकता का प्रचार किया। जहाँ कहीं तुम किसी तरह का नीति-विधान पाओगे, वहीं देखोगे कि उनका प्रभाव, उनका प्रकाश जाज्वल्यमान है।

बुद्ध एक वेदान्तवादी संन्यासी थे। उन्होंने एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की थी, जैसे आजकल नये नये सम्प्रदाय स्थापित होते हैं। जो सब भाव आजकल बौद्ध धर्म के नाम पर प्रचलित हैं, वे वास्तव में बुद्ध के अपने नहीं थे। वे तो उनसे भी बहुत प्राचीन थे। बुद्ध एक महापुरुष थे, जिन्होंने उन भावों में शक्ति का संचार कर दिया था। बुद्ध-धर्म का सामाजिक भाव ही उसकी नवीनता है।

बुद्धदेव अन्य सभी धर्माचार्यों की अपेक्षा अधिक साहसी और निष्कपट थे। वे कह गए हैं, 'किसी शास्त्र में विश्वास मत करो। वेद मिथ्या हैं। यदि मेरी उपलब्धि के साथ वेद मिलते हैं, तो वह वेदों का ही सौभाग्य है। मैं ही सर्वश्रेष्ठ शास्त्र हूँ; याग-यज्ञ और प्रार्थना व्यर्थ है।' बुद्ध पहले मानव हैं, जिन्होंने संसार को ही सर्वांग-सम्पन्न नीतिविज्ञान की शिक्षा दी थी। वे शुभ के लिए ही शुभ करते थे, प्रेम के लिए ही प्रेम करते थे।

जो धर्म उपनिषदों में केवल एक जातिविशेष के लिए नियत था, उसका द्वार गौतम बुद्ध ने सबके लिए खोल दिया और सरल लोकभाषा में उसे सबके लिए सुलभ कर दिया। उनका श्रेष्ठत्व उनके निर्वाण के सिद्धान्त में नहीं, अपितु उनकी अतुलनीय सहानुभूति में है। समाधि आदि बौद्ध धर्म के वे श्रेष्ठ अंग, जिनके कारण उक्त धर्म को महत्ता प्राप्त है, प्रायः सब-के-सब वेदों में पाए जाते हैं; वहाँ यदि अभाव है, तो वह है बुद्धदेव की बुद्धि तथा उनका हृदय, जिनकी बराबरी विश्व-इतिहास में आज तक कोई नहीं कर सका है।

उनका धर्म

जहाँ तक दर्शन की बात है, बुद्ध के अनुयायियों ने वेदों की सनातन चट्टानों पर बहुत हाथ पैर पटके, पर वे उसे तोड़ न सके और दूसरी ओर उन्होंने जनता के बीच से उस सनातन परमेश्वर को उठा लिया, जिसमें हर नर-नारी इतने अनुराग से आश्रय लेता था। और इसका फल यह हुआ कि बौद्ध धर्म को भारत से सहज भाव से लुप्त हो जाना पड़ा।

बुद्ध ने वेदान्त को प्रकाशित किया और उसका जनसाधारण में प्रचार करके भारतवर्ष की रक्षा की। बुद्ध के तिरोभाव के ठीक एक हजार वर्ष बाद फिर वैसी ही परिस्थिति पैदा हुई। भीड़, आम जनता तथा विभिन्न जातियों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। इन लोगों के घोर अज्ञानी होने का कारण बौद्ध धर्म में अवनति आना स्वाभाविक था। यह धर्म ईश्वर या विश्व के किसी शासक का उपदेश नहीं करता, अतः जनता शनैः शनैः

पुन: अपने देवी-देवता, भूत-प्रेत ले आई और अन्त में भारत में बौद्ध धर्म नाना प्रकार के विषयों की खिचड़ी-सा हो गया।

बौद्ध लोग पहले प्राणी हिंसा की निन्दा करते हुए वैदिक यज्ञों के घोर विरोधी हो गए थे। उस समय इन यज्ञों का घर घर अनुष्ठान होता था। हर घर में यज्ञ हेतु आग जलती थी। बस, उपासना के लिए और कुछ ठाट-बाट न था। बौद्ध धर्म के प्रचार से इन यज्ञों का लोप हो गया। उनकी जगह बड़े बड़े ऐश्वर्ययुक्त मन्दिर, भड़कीली अनुष्ठान-पद्धतियाँ, शानदार पुरोहित तथा वर्तमान काल में भारत में और जो कुछ दिखायी देता है, सबका आविर्भाव हुआ। कितने ही ऐसे आधुनिक पण्डितों के, जिनसे अधिक ज्ञान की अपेक्षा की जाती है, ग्रन्थों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि बुद्ध ने ब्राह्मणों की मूर्तिपूजा उठा दी थी। मुझे यह पढ़कर हँसी आती है। वे नहीं जानते कि बौद्ध धर्म ने ही भारत में ब्राह्मण-धर्म और मूर्ति-पूजा की सृष्टि की थी।

भगवान बुद्ध के प्रति काफी श्रद्धा-भक्ति है। पर मेरे शब्दों पर ध्यान दो, बौद्ध धर्म का विस्तार उक्त महापुरुष के मत और अपूर्व चरित्र के कारण उतना नहीं हुआ, जितना बौद्धों द्वारा निर्माण किए गए बड़े बड़े मन्दिरों तथा भव्य प्रतिमाओं के कारण और समग्र देश के सम्मुख किए गए भड़कीले उत्सवों के कारण। इसी भाँति बौद्ध धर्म ने उन्नति की। इन सब बड़े बड़े मन्दिरों एवं आडम्बर भरे क्रिया-कलापों के सामने घरों में हवन के लिए प्रतिष्ठित छोटे छोटे अग्निकुण्ड ठहर न सके। पर अन्त में इन सब क्रिया-कलापों में भारी अवनति हो गई।

सगुण ईश्वर के विरुद्ध बुद्ध के सतत तर्क करने के फलस्वरूप भारत में प्रतिमा-पूजा का सूत्रपात हुआ। वैदिक युग में प्रतिमा का अस्तित्व नहीं था, उन दिनों लोगों की यह धारणा थी कि ईश्वर सर्वत्र विराजमान है। पर बुद्ध के प्रचार के कारण हम जगत्स्रष्टा तथा अपने सखास्वरूप ईश्वर को खो बैठे और उसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रतिमा-पूजा की उत्पत्ति हुई। लोगों ने बुद्ध की मूर्ति गढ़कर पूजा शुरू की। ईसा के मामले में भी वैसा ही हुआ। काठ-पत्थर की पूजा से लेकर ईसा और बुद्ध की पूजा तक सब प्रतिमा-पूजा है; किसी-न-किसी प्रकार की मूर्ति के बिना हमारा काम चल ही नही सकता।

वेदान्त का बौद्ध मत से कोई झगड़ा नहीं। वेदान्त का उद्देश्य ही सबका समन्वय करना है। उत्तर के बौद्धों के साथ हमारा तनिक भी झगड़ा नहीं है। पर बर्मा, स्याम तथा अन्य दक्षिण-पूर्वी देशों के बौद्ध कहते हैं कि परिदृश्यमान इन्द्रियग्राह्य जगत् का ही अस्तित्व है और पूछते हैं, "इस परिदृश्यमान जगत् के पीछे एक शाश्वत और अपरिवर्तनशील सत्ता की – एक अतीन्द्रिय जगत् की कल्पना करने का तुम्हें क्या अधिकार है?" इसके उत्तर में वेदान्त इस आरोप को मिथ्या बताता है। वेदान्त का कभी भी यह मत नहीं रहा कि इन्द्रियग्राह्य तथा अतीन्द्रिय ये दो जगत् हैं। उसका कहना है कि जगत् केवल एक है। इन्द्रियों द्वारा देखे जाने पर वही प्रपंचमय और अनित्य भासता है, किन्तु वास्तव में वह सर्वदा अपरिवर्तनशील और नित्य ही है। जैसे मान लो, किसी को रस्सी से सर्प का भ्रम हो गया है। जब तक उसे सर्प का बोध है, तब तक उसे रस्सी दिखेगी ही नहीं – वह उसे सर्प ही समझता रहेगा। पर यदि उसे ज्ञात हो जाय कि वह सर्प नहीं रस्सी है, तो फिर वह रस्सी में सर्प कभी नहीं देख सकेगा – उसे केवल रस्सी ही दिखेगी। वह या तो रस्सी है, या सर्प ही; किन्तु दोनों का बोध एक साथ कभी नहीं होगा। अत: बौद्धों का हम लोगों पर यह आरोप कि हम दो जगत् में विश्वास करते हैं, सर्वथा मिथ्या है। यदि वे चाहें, तो केवल इस इन्द्रिय-ग्राह्य जगत् के अस्तित्व को ही स्वीकार कर सकते हैं, पर वे यह नहीं कह सकते हैं कि दूसरों को उसे अपरिवर्तनीय सत्ता मानने का अधिकार नहीं है।

अहिंसा परमो धर्मः – बौद्ध धर्म का एक बहुत अच्छा सिद्धान्त है, परन्तु अधिकारी का विचार न करके जबरदस्ती राज्य की शक्ति के बल पर उस मत को सर्वसाधारण पर लाद कर बौद्ध धर्म ने देश का सर्वनाश किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग चीटियों को तो चीनी देते हैं, पर धन के लिए भाई का भी सर्वनाश कर डालते हैं।

भगवान बुद्ध कहते हैं कि 'स्वार्थ-भाव संसार के लिए अभिशाप है।' हम स्वार्थी होते हैं और उसी में यह अभिशाप छिपा हुआ है। वास्तव में इस स्वार्थ से कुछ भी नहीं बनाता। प्रकृति के एक गूढ़ नियम (नदी के प्रवाह) की भाँति तुम सदा (आगे आगे) बहते रहते हो। बहते हो – अस्थिर रहते हो। अब नि:स्वार्थ होकर समझ-बूझ के साथ अपने पैरों पर दृढ़ हो जाओ। ईश्वर, आत्मा आदि की चिन्ता न करो। मात्र अच्छे के लिए ही अच्छा करो। इसमें न कोई भय हो, न कोई आसक्ति।

उत्तरी बौद्ध धर्म के अधिकांश अनुयायी मुक्ति में विश्वास रखते हैं – वे यथार्थत: वेदान्ती ही हैं। केवल सिंहल के बौद्ध निर्वाण को विनाश के समानार्थक रूप में ग्रहण करते हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

योगः कर्मसु कौशलम्

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं –

स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तत् शृणु ।।
यतः प्रवृत्तिः भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।

– अर्थात् ''अपने अपने कर्मों में लगे रहकर मनुष्य सिद्धि को पा लेता है। कैसे पा लेता है? – यह तू मुझसे सुन। जिस परमात्मा से समस्त चराचर जगत् उत्पन्न हुआ है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उसकी अपने कर्मों द्वारा पूजा करते हुए मनुष्य सिद्धि को पा लेता है।''

बड़ी अद्‌भुत बात कह दी श्रीकृष्ण ने। कर्मों से पूजा करने को वे कहते हैं। हमने धूप, चन्दन, फल-फूल आदि से ईश्वर की पूजा करने की बात सुनी थी, पर यहाँ हम एक नयी बात सुनते हैं – अपने कर्मों से भगवान की पूजा करनी चाहिये। यह कर्मों द्वारा पूजा किस प्रकार होती है? उसका क्या तात्पर्य है? यही कि कर्म किये जाओ, पर उसके फल को भगवत् समर्पित कर दो। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि चोर चोरी करे और पाप मुक्त होने के लिए सोचे कि मैं इसका फलाफल ईश्वर को समर्पित करता हूँ, दुराचारी व्यक्ति दुष्कर्म करे और ईश्वर-समर्पण की आड़ ले ले। नहीं, गीता का तात्पर्य यह नहीं है।

वह अवश्य मनुष्य को कर्मों का फलाफल ईश्वर के चरणों में सौंप देने के लिए कहती है, पर साथ ही यह भी बता देती है कि कर्म के अन्य रूप भी होते हैं, जिनसे हमें बचकर चलना पड़ता है –

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।।

– कृष्ण कहते हैं, ''अर्जुन, कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस सम्बन्ध में तत्त्वज्ञ मुनि भी कुछ ठीक से नहीं कह पाते, इसलिए मैं तेरे सामने कर्म की चर्चा करूँगा जिसके तत्त्व को जानकर तू अशुभ से तर जाएगा। हे पार्थ, कर्म क्या है – यह जान लेना चाहिए। विकर्म और अकर्म किसे कहते हैं – यह भी समझ लेना चाहिए, क्योंकि धर्म की गति बड़ी गहन है।''

सचमुच कर्म का रहस्य दुर्बोध-सा मालूम पड़ता है। कृष्ण कर्म के तीन रूप बताते हैं – पहला कर्म, दूसरा विकर्म और तीसरा अकर्म। विकर्म विपरीत कर्म को कहते हैं – ऐसे कर्म जो शास्त्र-निषिद्ध हैं; जिनको समाज बुरी निगाह से देखता है। अकर्म जड़ता या आलस्य को कहते हैं। कर्म करते समय हमें उसके इन दो रूपों से बचना पड़ता है और जीवन के कर्तव्य-कर्मों को करते हुए उनका फलाफल भगवान् पर छोड़ देना होता है। यही योग है। कहा गया है – 'योगः कर्मसु कौशलम्'। अर्थात् कर्म की कुशलता ही योग है। कई लोग इसकी बड़ी विचित्र व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि यदि मनुष्य अपना काम बड़ी कुशलता से कर ले, तो वह योगी कहलाने के लायक है। तब तो तात्पर्य यह हुआ कि यदि सुनार बड़ी कुशलता से अपना काम करता हो, तो वह योगी है; दुकानदार बड़ी कुशलता से अपनी दुकान का काम करता हो, तो वह योगी है। और इसी प्रकार एक पाकेटमार बड़ी कुशलता से अपना काम कर लेता हो, तो वह भी योगी बन गया। पर क्या हम कभी ऐसे तर्क को स्वीकार कर सकते हैं? नहीं। तब फिर कर्म की कुशलता का क्या मतलब हुआ?

श्रीरामकृष्ण एक उदाहरण देते हैं – शहद का एक छत्ता है। उसमें से हम शहद निकालना चाहते हैं। हमें कुशल कब कहा जायेगा? तब, जब हम शहद इस प्रकार निकालें कि हमें मधुमक्खियाँ काट न खायें। इसी प्रकार, कर्म की कुशलता तब होती है जब कर्म तो किये जाएँ, पर कर्म का बन्धन कर्ता पर न लग सके। 'योगः कर्मसु कौशलम्' का यही अर्थ है। ❑❑❑

अंगद-चरित (७/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके सातवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक हैं। – सं.)

अपने अभिमान के कारण रावण न बूढ़ों का सम्मान करता था, न युवकों का। पर भगवान के चरित्र में अच्छा सामंजस्य है। यह बूढ़े-जवान का प्रसंग भगवान राम के सामने कई बार आया। जाम्बवान बूढ़े हैं और अंगद युवा हैं। परशुराम बूढ़े थे और लक्ष्मण युवक। दोनों की प्रकृति बिल्कुल भिन्न भिन्न थी। श्रीराम किसके पक्ष में है? वे दोनों का सामंजस्य करते हैं।

परशुराम जी ने महान् कार्य किए। उन्होंने विवाह नहीं किया, सत्ता पर अधिकार नहीं किया, निर्लोभी थे, बड़े त्यागी महापुरुष थे, निष्काम थे और अपराधियों को दण्ड देने में बड़े कठोर थे। परन्तु कभी कभी वृद्धावस्था में व्यक्ति में एक कमी आने की सम्भावना रहती है। वृद्ध की महिमा देख यदि दूसरे सम्मान करें, तब तो शोभा है, पर सम्मान चाहने से ही सम्मान नहीं मिल जाता। परशुराम की समस्या यही है। उन्हें अपना पूरा इतिहास भूलता नहीं। आदमी जब नया कुछ नहीं कर पाता, तो पुरानी बातें खूब याद करता है। परशुराम जी में यही मनोवैज्ञानिक दुर्बलता है। लक्ष्मण जी के बोलने पर वे सोचते हैं कि शायद यह मेरा इतिहास नहीं जानता। वे विश्वामित्र जी से कहते हैं – "तुम चुपचाप सुन रहे हो? यदि चाहते हो कि यह बालक न मारा जाय, तो इसे रोको।" यह भी कहा – इसे बताओ कि हम कितने क्रोधी हैं, हमारा कैसा प्रताप है –

तुम हटकहु जौं चहहु उबारा ।
कहि प्रतापु बलु रोषु हमारा ।। १/२७३/३

लक्ष्मण जी तो युवक हैं। युवकों में सहने की क्षमता जरा कम ही रहती है। उन्होंने थोड़ा व्यंग कर दिया। बोले –

अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी ।
बार अनेक भाँति बहु बरनी ।।
नहिं संतोषु त पुनि कछु कहहू ।
जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू ।। १/२७३/७

– "महाराज, अपना गुण सुनाने के लिए आप स्वयं बहुत हैं। सन्तोष न हो तो कुछ और कह डालिए।" लक्ष्मण जी परम तेजस्वी हैं। वे उनके इस महत्त्व को स्वीकार नहीं करना चाहते और परशुराम जी को लगता है कि यह बालक बड़ा दुष्ट है।

यहाँ भगवान राम क्या करते हैं? वही सेतु का काम। एक ओर तो वे आँखें तरेरकर लक्ष्मण जी की ओर देखते हुए मानो कहते हैं – यह क्या? पर उन्हें डाँटने के लिए एक शब्द भी नहीं बोलते। उनका संकेत यह है कि 'तुम भले ही वीर हो, तुम्हारी निर्भयता में सन्देह नहीं, पर समाज द्वारा सम्मानित इन महापुरुष का यहाँ सबके सामने अपमान करना ठीक नहीं। हम दोनों ने इन्हें प्रणाम किया है, अतः इनके सम्मान में विनम्र रहना ही हमारा कर्तव्य है।' संकेत पाकर लक्ष्मण जी टेढ़ी वाणी बोलना बन्द करके गुरु वशिष्ठ के पास चले गए –

सुनि लछिमन बिहसे बहुरि नयन तरेरे राम ।
गुरु समीप गवने सकुचि परिहरि बानी बाम।। १/२७८

पर भगवान राम ने केवल युवा को ही नियंत्रित किया, वृद्ध परशुराम जी का बड़ा सम्मान करने के बाद वे बड़ी मीठी भाषा में बोले – महाराज, आपके ही मुँह से तो निकला है – **रे नृप-बालक !** तो यदि यह बच्चा है, तो बच्चे से बड़े लोग जैसा व्यवहार करते हैं, वैसा ही आप करें। आप उसे बराबरी का दर्जा क्यों दे रहे हैं? आप बालक पर कृपा कीजिए –

नाथ करहु बालक पर छोहू ।
सूध दूधमुख करिय न कोहू ।। १/२७७/१

परशुराम की भौंहें टेढ़ी हो गईं। कितना बड़ा बालक है तुम्हारा? तो कह दिया – इस सीधे और दुधमुँहे बच्चे पर क्रोध न कीजिए। और उसके बाद भगवान कहते हैं –

जौ पै प्रभु प्रभाउ कछु जाना ।
तौ कि बराबरि करत अयाना ।।
जौ लरिका कछु अचगरि करहीं ।
गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं ।।
करिअ कृपा सिसु सेवक जानी ।
तुम्ह सम सील धीर मुनि ज्ञानी ।।१/२७७/२-४

– यदि यह बेसमझ आपका जरा भी प्रभाव जानता, तो क्या आपकी बराबरी करता? बालक यदि कुछ चपलता भी करे, तो गुरु-पिता-माता आनन्द से भर उठते हैं। आप तो समदर्शी, सुशील, धीर तथा ज्ञानी मुनि हैं, अतः इसे शिशु तथा सेवक जानकर इस पर कृपा कीजिए।

अब प्रभु कैसे कहें कि आप जो कर रहे हैं, लक्ष्मण भी वही तो कर रहे हैं। जब उनसे पूछा गया कि आप लक्ष्मण की भूल स्वीकार करते हैं न? तो कह दिया – महाराज, यह शिशु है, आपका ही तो अनुगमन कर रहा है **– येहि जानि आपन अनुगामी**। भगवान बोले – महाराज, आप जानते हैं कि इस

बालक से भूल क्यों हुई? यदि आप मुनिवेष में आए होते, तो यह निश्चित रूप से आपकी चरणधूलि सिर से लगा लेता, पर आपके वेष को देखकर इसे थोड़ा धोखा हो गया –

बेषु बिलोकें कहेसि कछु
बालक हूँ नहिं दोसु । १/२८१
जौ तुम औतेहु मुनि की नाई ।
पद रज सिर सिसु धरत गोसाई ।। १/२८२/३ .

संकेत यह था कि यदि आप अपने शस्त्र द्वारा इसे उत्तेजित करेंगे, तो यह युवक उत्तेजित हुए बिना नहीं रहेगा। अत: श्रीराम के मतानुसार ऐसी स्थिति में वृद्ध को चाहिए कि वह युवा को क्षमा करे और युवा को चाहिए कि वह वृद्ध का सम्मान करे। यही समन्वय है। यदि वृद्ध में उदारता न हो और युवक में सन्तुलन न रहे, तो दोनों में टकराहट होगी।

भगवान राम के पास सभी हैं – वृद्ध भी हैं और युवक भी। वे लंका आए हैं, तो साथ में बूढ़े सज्जन को भी लाए हैं। बूढ़े व्यक्ति को छोड़कर आना चाहिए या फिर युद्ध के मैदान में लाना चाहिए? रावण-अंगद संवाद में वह यही कहता है – क्या वह बूढ़ा जाम्बवान भी लड़ेगा –

जामवंत मंत्री अति बूढ़ा ।
सो कि होइ अब समरारूढ़ा ।। ६/२३/४

भगवान के पास तो अंगद जैसे तेजस्वी युवक भी है और वृद्ध जाम्बवान भी। पर चुनाव कैसा सुन्दर हुआ? चुनाव वृद्ध ने किया, पर युवक का! जाम्बवान जी के समक्ष जब प्रश्न उठा कि राजदूत किसे बनाया जाय, तो उन्होंने यह नहीं कहा कि मैं ही चला जाऊँ। नि:सन्देह वे योग्य थे, बड़ी क्षमता भी थी उनमें, पर उन्होंने कहा – मैं समझता हूँ कि इसके लिए बालिपुत्र ही सर्वाधिक उपयुक्त होगा। बालिपुत्र को दूत बनाकर भेजिए। सारे मंत्रिमण्डल ने एक स्वर में समर्थन किया –

मंत्र कहउँ निज मति अनुसारा ।
दूत पठाइअ बालिकुमारा ।।
नीक मंत्र सबके मन माना । ६/१७/४-५

भगवान के मन की बात दूसरों के मुँह से निकली। प्रभु ने प्रसन्न होकर अंगद को निकट बुलाया। श्रीराम की यह कितनी उत्तम नीति है, मंत्रियों का मत लेने की, बूढ़े जाम्बवान की मंत्रणा से युवक अंगद को राजदूत बनाकर भेजने की। कितनी व्यापक अर्थोंवाली नीति है ! अंगद को भेजने के कई अर्थ थे। यह जो अंगद को भेजा जा रहा है, इसमें पहले तो व्यक्ति को देखकर ही रावण पर कुछ प्रभाव पड़ना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करें, तो यहाँ श्रीराम की प्रीति भी है और नीति भी।

भगवान राम यदि केवल राजनीतिज्ञ होते और उनका हृदय यदि स्नेह-प्रेम से ओतप्रोत न होता, तो वे शायद इस प्रस्ताव को कभी स्वीकार नहीं कर पाते। क्योंकि उनके मन में तो अंगद के प्रति सन्देह होना चाहिए। राजदूत का पद तो ऐसे व्यक्ति को दिया जाता है, जिस पर पूरी तरह से भरोसा किया ज़ा सके। अब यदि बहिरंग दृष्टि से देखें, तो श्रीराम से किसी को हानि हुई है तो वह है अंगद। अंगद के पिता का वध भी श्रीराम के हाथों हुआ और फिर बालि-पुत्र के रूप में उस राज्य से उन्हें वंचित करके श्रीराम द्वारा वह सुग्रीव को दे दिया गया। इस प्रकार यदि हम देखें, तो कह सकते हैं कि सारी सेना में जिस पर विशेष दृष्टि रखी जानी चाहिए थी, वे थे अंगद। पर भगवान ने जाम्बवान की बात को स्वीकार किया और अंगद पर उतना ही विश्वास किया, जितना कि हनुमान जी पर। हनुमान जी पर उनका विश्वास तो स्वाभाविक है, पर अंगद को जितना बड़ा अधिकार देकर प्रभु ने भेजा, उतना तो उन्होंने हनुमान जी को भी नहीं दिया था। हनुमान जी को तो केवल सीताजी को पता लगाने और सन्देश देने भेजा गया, पर अंगद को तो सीताजी को हार जाने तक का अधिकार दिया गया, श्रीराम को भी हार जाने का अधिकार दिया गया है और उन्होंने इसका प्रयोग भी किया। श्रीराम जितना विश्वास उन्हें देते हैं, उतना ही वे अंगद से भी पाते हैं।

उधर रावण न तो दूसरों पर विश्वास करता है, न दूसरों से विश्वास पाता है। जब वह अपने मंत्रिमण्डल से पूछता कि युद्ध कैसे किया जाय, आप लोगों को क्या कहना है? तब वह पूछता तो था, पर उसके मन में पहले से ही रहता था कि सब मेरा ही समर्थन करें, नहीं तो बाद में अच्छी खबर लेंगे। अत: रावण के पूछने पर सारे राक्षस तत्काल एक स्वर में कहते – महाराज, ये भालू-बन्दर तो हमारे भोजन हैं। भला यह भी पूछने की बात है कि हम भोजन कैसे करेंगे? वे जरा सामने तो आएँ, बस, फिर तो हम स्वयं ही उन्हें खा लेंगे –

नर कपि भालु अहार हमारा । ६/८/९

पर भगवान राम के विश्वास के मूल में प्रेम है। वे विश्वास करते हैं और विश्वास पाते भी हैं। उन्होंने लंका में जो दो दूत भेजे, हनुमान जी और अंगद – दोनों अकेले ही गए और महान् कार्य करके लौटे। पर रावण ने जब श्रीराम की सेना में जब गुप्तचर भेजे, तो अकेले नहीं, शुक और सारण – दोनों को एक साथ भेजा। क्यों? रावण हर किसी को सन्देह की दृष्टि से देखता था। उसने सोचा – गुप्तचर अकेला गया, तो वहाँ जाकर न जाने क्या करेगा, कहीं शत्रु से मिल न जाय, अत: दो को भेजा, ताकि ये शत्रु का भेद लेने के साथ ही एक दूसरे पर भी नजर रखें। रावण विशुद्ध राजनीतिज्ञ था, सदा चौकन्ना और सशंकित रहता था। किसी पर भरोसा नहीं करता था, पर उसकी इतनी चतुराई के बाद भी फल उल्टा ही हुआ।

पर भगवान का हृदय इतना सरल है, कि सहज ही सब पर विश्वास हो जाता है। विश्वास कौन नहीं कर पाता? जिसके हृदय में पहले से ही कोई उल्टी-सुल्टी बात होती है, उसी को सन्देह होता है। सुग्रीव बोले – विभीषण भेदिया है। सुनकर

प्रभु हँसने लगे। कहा – भेद लेने आया है तो चिन्ता कैसी? सुग्रीव बोले – महाराज, शत्रु की ओर से कोई भेद लेने आये, तो यह चिन्ता की ही तो बात है। प्रभु ने कहा – "भई, अपने पास तो छिपाने लायक कोई भेद ही नहीं है, तो भी यदि कोई आये, तो अच्छा ही है। मैं तो चाहता हूँ कि रावण किसी को भेजे। यदि उसने भेदिया भेजा है, तो यह उसकी सद्‌बुद्धि है, इससे उसे कुछ तो समझेगा। यदि मुझे अपना भेद छिपाना होता, तो मैं अवतार ही क्यों लेता, निराकार तो था ही, सब छिपा हुआ तो था ही। सब प्रगट करने को ही तो मैं आया हूँ। तुम डरते क्यों हो? हम स्वयं सब कुछ बताने को तैयार हैं –

भेद लेन पठवा दससीसा।
तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा।। ५/४४/६

भगवान राम के मन में कोई कपट, संशय या षड्यंत्र नहीं है। वे पूर्ण विश्वास देते हैं, पर रावण के मन में संशय है। उसने भेदिये भेजे, पर क्या वे काम आये? शुक और सारण बन्दर बनकर आए थे और वे इतने निपुण थे कि श्रीराम की सेना में घुलमिल गए। वे भेद लेने आए थे। क्या भेद मिला उन्हें? उन्हें श्रीराम के स्वभाव का पता चला। वे श्रीराम के स्वभाव पर मुग्ध होकर उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे – अरे, हमारा स्वामी रावण कैसा है और ये श्रीराम कैसे हैं –

प्रगट बखानहिं राम सुभाउ।
अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ।। ५/५२/१

आसपास के बन्दरों ने सुना। बोले – अरे ये तो लंकावाले लगते हैं, पकड़ो इन्हें। पकड़कर सुग्रीव के पास ले गए। उन्हें देख सुग्रीव को बदले की राजनीति सूझी। लंका मे हनुमान जी को पकड़कर लाए जाने पर रावण ने कहा था – इस बन्दर का अंग-भंग कर दो। अतः सुग्रीव ने कहा – इनके भी नाक-कान काटकर लंका भेजो, बदला हो जाएगा। रावण के गुप्तचर कहने लगे – "आप लोग भी बड़े विचित्र हैं। जब हम कपट कर रहे थे, तब तो आप पकड़ नहीं सके और जब राम के स्वभाव ने हमें बदल दिया, हम भले बन गये हैं, तब आप हमें दण्ड दे रहे हैं। यह दण्ड बुरा बनने का है या भला बनने का?" पर बन्दरों ने कहा – "नहीं, तुम्हें माफ नही किया जाएगा। ऐसी बातें तो कोई भी बना सकता है।" लक्ष्मण जी ने सुना तो हँसकर सबको पास बुलाया –

सुनि लछिमन सब निकट बोलाए। ५/५२/७

सुग्रीव ने तो सोचा कि शायद मारने के लिए बुला रहे हैं। हमने तो केवल नाक-कान काटने के लिए ही कहा था, पर ये तो शायद प्राणदण्ड ही देगे। पर उन्होंने तुरन्त छुड़वा दिया –

दया लागि हँसि तुरत छोड़ाये।। ५/५२/७

और इतना ही नहीं, लक्ष्मण जी ने कहा – आज से तुम्ही हमारे राजदूत हो, हमारा सन्देश लेकर रावण के पास जाओ। और सचमुच ये राजदूत इतने प्रभावी सिद्ध हुए कि अंगद और हनुमान जी से जरा भी कम नहीं थे। अंगद ने भी रावण को भगवान की बड़ी महिमा सुनाई-दिखाई और हनुमान जी ने भी, पर इन शुक और सारण ने तो हद ही कर दी। लौटकर रावण के पास जाने पर जब उसने पूछा कि उधर के बड़े बड़े सेनापतियो के नाम बताओ। तो इन्होंने गिनाना शुरू किया –

द्विबिध मयंद नील नल अंगद गद बिकटासि।
दधिमुख केहरि निसठ सठ जामवंत बलरासि।। ५/५४

रावण ने पूछा – ये जो तुमने नाम गिनाये, इनमें उस नगर जलानेवाले बन्दर का क्या नाम है? रावण को हनुमान जी ने अपना नाम नहीं बताया था। रावण ने पूछा – वह द्विविध था, मयन्द था, या नल-नील, कौन था वह? दूत बोले – इनमें से कोई नहीं था; उसका तो वहाँ कोई पता ही नहीं चला। – अरे, तुम लोगों ने उसका पता क्यों नहीं लगाया? दूत बोले – महाराज, हम तो बड़े बड़े योद्धाओं ने नाम ही पता लगाकर आए हैं। – तो क्या वह कोई साधारण बन्दर था? उन लोगों ने कहा – सारी सेना में वही सबसे दुर्बल है –

जेहि पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा।
सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा।। ५/५४/७

उस आतंक की कल्पना कीजिये। इन्होंने तो अंगद से भी ज्यादा आतंक पैदा कर दिया। जब सबसे दुर्बल ने ऐसा कर दिया, तो जो वीर लोग हैं, उनके आने पर क्या होगा?

यह जो परिवर्तन की प्रक्रिया है, भगवान की प्रीति की जो प्रक्रिया है, वही उनकी नीति की विजय है। उनकी नीति प्रीति से मिलकर बनी हुई है। व्यक्ति के हृदय को बदल देना उनका स्वभाव है, यही उनकी नीति है। अंगद पर उन्होंने जो विश्वास किया, यह उनके चरित्र का महानतम पक्ष है। भगवान श्रीराम का अभिप्राय यह था कि बालि को मारने में मेरा व्यक्तिगत कोई रंचमात्र भी द्वेष नही था, कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं था। बालि के प्रति मेरे मन में यदि कोई रोष नहीं था, कोई द्वेष नहीं था, तो अंगद को कभी यह भ्रम नहीं होगा कि मैने उसके पिता का वध किया है। उन्होंने कहा – अंगद तुम तो मेरे इतने विश्वस्त हो कि मैं तुम्हे सर्वाधिकार दे रहा हूँ। हनुमान जी को तो प्रभु ने बता दिया था –

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु।
कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु।। ४/२३/११

पर जब अंगद ने पूछा – महाराज, आपने मुझे राजदूत का पद दिया। अब कहिए, मुझे क्या करना है? तब प्रभु ने कहा – तुम स्वयं इतने बुद्धिमान हो, इतने विवेकी हो कि गलत निर्णय कभी ले ही नही सकते। अतः मै तुम्हें पूरा अधिकार देता हूँ और यदि तुम पूछते हो, तो मै इतना ही कह सकता हूँ कि तुम जाओ और जिससे हमारा काम बन जाय वैसा करो –

बहुत बुझाई तुम्हहि का कहउँ।
परम चतुर मैं जानत अहउँ।। ६/१७/४

'मेरा काम बन जाय' – स्वार्थ की भाषा है। पर अगले ही वाक्य में वे बोले – अंगद, ध्यान रखना कि मेरा काम होना ही सब कुछ नहीं है। वही करना जिसमें रावण का भी हित हो –

काजु हमार तासु हित होई। ६/१७/८

यहाँ भी है वही नीति और प्रीति, स्वार्थ और परमार्थ का सामंजस्य। भगवान ने अंगद को राजदूत के रूप में रावण की सभा में भेजकर मानो अंगद को भी उत्तर दिया। अंगद के मन में जो ग्लानि थी कि प्रभु ने मुझे सीताजी के पास सन्देश ले जाने का कार्य नहीं सौंपा। पर जब अंगद को राजदूत बनाकर भेजा, तो मानो प्रभु का संकेत था कि हनुमान को तो सीता को सन्देश देने का काम सौंपा था, पर तुम्हें तो सारा – हारने-जीतने का अधिकार देकर भेज रहा हूँ। तुम्हारा अधिकार उनसे कम नहीं, बल्कि अधिक है। यदि आप सचमुच ही रावण-अंगद संवाद को इस दृष्टि से देखें तो वहाँ भगवान की नीति और प्रीति की कितनी बड़ी विजय है। इसमें कितना दिव्य परमार्थ तत्त्व है। इसमें ऐसा स्वार्थ है, जो परमार्थ का विरोधी नहीं है। यही सूत्र पूरे संवाद में है।

अंगद को राजदूत बनाकर भेजने में कितनी बड़ी राजनैतिक सूझ थी! अंगद को भेजने का अर्थ यह है कि बालिपुत्र को देखते ही रावण को बालि की याद आ जायेगी और वह देखेगा कि यह बालिपुत्र किसका दूत बनकर आया है। उनका उद्देश्य रावण को यह याद दिलाना था कि पहले भी उसकी पराजय हो चुकी है। मानो उनका संकेत था – रावण, यदि तुम बुद्धिमान हो, तो सोच लो कि बालि को जिसने एक बाण से मार दिया, उस व्यक्ति से विरोध करना क्या तुम्हारे हित में है –

बालि बध्यो जेहिं एक सर। ६/३३

रावण ने हनुमान जी से भी यही पूछा था। पर रावण-हनुमान संवाद लोगों को उतना पसन्द नहीं आता। उसमें तू-तू, मैं-मैं जरा कम दिखती है। हनुमान जी तो लगे भक्ति की भाषा में बोलने। रावण द्वारा परिचय पूछने पर वे अपना और अपने पिता का नाम नहीं बताते। वे तो सीधा सृष्टि से प्रारम्भ करते हुए कहते हैं – मैं उन प्रभु का दूत हूँ, जिनके बल से माया ने विश्व का निर्माण किया; जिनकी शक्ति से ब्रह्मा-विष्णु-महेश सृजन-पालन-संहार करते हैं और जिन्होंने राम के रूप में अवतार लिया है –

सुनु रावण ब्रह्माण्ड निकाया।
पाई जासु बल बिरचति माया।। ५/२१/४
जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि।। ५/२१

रावण ने पूछा – किसके बल से तुमने वाटिका उजाड़ी? हनुमान जी बोले – "रावण, हमारे और तुम्हारे पीछे दो बल थोड़े ही हैं। जिसके बल से तुमने संसार को जीता है, उसी के बल से मैंने बाग उजाड़ दिया। हममें और तुममे बस इतना ही अन्तर है कि बल तो तुम्हें भी और मुझे भी ईश्वर का ही मिला है, पर तुमने बल का दुरुपयोग किया और मैंने सदुपयोग। रावण ने कहा – मैंने दुरुपयोग क्या किया? हनुमान जी बोले – "जिनसे तुम्हें शक्ति मिली है, उन्हीं की प्रिया को तुम हरण कर लाए, इससे बढ़कर बल का दुरुपयोग क्या हो सकता है? मैं तो उनका दूत बनकर, सन्देश लेकर आया हूँ।" यह हनुमान जी की भाषा है – बड़ी तात्त्विक और दार्शनिक भाषा।

इधर अंगद तो शुरू करते हैं राजनीति से। रावण पूछता है – रे बन्दर, तू कौन है? और अंगद कहते हैं – हे रावण, मैं रघुवीर का दूत हूँ। ऐसा नहीं कि वे केवल राजनैतिक और व्यावहारिक भाषा ही बोलते हो। अंगद जी सांकेतिक भाषा भी बोलते हैं। रावण ने यह नहीं पूछा कि तुम किसके बेटे हो, अंगद ने स्वयं अपनी ओर से बता दिया – मेरे पिताजी से तुम्हारी मित्रता थी। अत: मैं तुम्हारे हित के लिए आया हूँ –

मम जनकहि तोहि रही मिताई।
तव हित कारन आयउँ भाई।। ६/२०/२

रावण को पता नहीं था कि यह बालि का पुत्र अंगद है, अत: वह पूछता है – तू किस नाते से मेरा मित्र हो गया –

केहि नाते मानिए मिताई। ६/२१/२

इस पर अंगद सीधे न कहकर बोले – "मैं बालि का बेटा अंगद हूँ। क्या उनके साथ कभी तुम्हारी भेंट हुई थी?" इस वाक्य में अंगद का व्यंग्य था कि लगता है तुम अपनी पुरानी मित्रता को भी भुलाना चाहते हो। रावण ने भी व्यंग्य के द्वारा ही अपनी राजनैतिक चातुरी का परिचय दिया – "आजकल कहाँ हैं बालि? उनका कुशल समाचार भी तो कुछ सुनाओ।" तब अंगद उलटकर कह देते हैं – दस दिन बाद जाकर मित्र से मिलना और तब वे बता देंगे कि राम के विरोध करने का क्या फल होता है। तुम्हें यह सब खूब सुनने को मिलेगा –

दिन दस गएँ बालि पहिं जाई।
बूझेहु कुसल सखा उर लाई।।
राम बिरोध कुसल जस होई।
सो सब तोहि सुनाइहि सोई।। ६/२१/८-९

अंगद को पहले से ज्ञात था कि जब हनुमान जी ने रावण को सम्मान देने की चेष्टा की थी, तो वह सचमुच ही उसे अपनी महानता मान बैठा था। हनुमान जी का उद्देश्य था कि रावण से ऐसी भाषा में बात की जाय कि उसका सम्मान भी बना रहे और वह मेरी बात मानकर बैर-विरोध छोड़ दे। रावण बड़े गर्व से फूला हुआ है। हनुमान जी उसे याद दिलाना चाहते हैं कि वह जीवन में सदा अपराजेय नहीं रहा है। पर हनुमान जी बड़ा सँभाल कर बोलते हैं। वे रावण से कहते है – मैं तुम्हारी प्रभुता जानता हूँ। तुम्हारा सहस्रबाहु से युद्ध हुआ था और बालि से युद्ध करके भी तुमने बड़ा यश कमाया –

जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई।

सहसबाहु सन परी लराई ।।
समर बालि सन करि जसु पावा । ५/२२/१-२

हनुमान जी की बात पर रावण खूब हँसने लगा। हँसने की क्या बात थी? रावण बड़ा प्रसन्न हुआ कि बन्दर ने दो का नाम तो लिया, पर हार शब्द का प्रयोग एक बार भी नहीं किया। अत: यह बन्दर तो मेरी प्रशंसा ही कर रहा है। मेरा इतिहास ही बड़ा अद्वितीय है। पर वही बात जब अंगद कहते हैं, तब लगता है कि यह व्यंग्य है। कहावत है – 'लात के देवता बात से नहीं मानते।' अंगद जानते थे कि रावण को सम्मान देने से इसका सिर फिर जायेगा। अत: वे दूसरी शैली को अपना कर कई रावणों का इतिहास सुनाते हैं। कहते हैं – मैंने जिन सब रावणों के बारे में सुना है, उनमें से तुम कौन-से हो? एक को तो पाताल लोक के लड़कों ने घुड़साल में बाँध लिया था। और दूसरे को सहस्रबाहु ने जलचर समझकर पकड़ लिया था। आगे और भी याद दिला दिया –

बलिहि जितन एक गयउ पाताला ।
राखेउ बाँधि सिसून्ह हयसाला ।।
खेलहि बालक मारहि जाई ।
दया लागि बलि दीन्ह छोड़ाई ।।
एक बहोरि सहसभुज देखा ।
धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषा ।। ६/२४/१३-१५

फिर बोले – मुझे पूछने में तो बड़ा संकोच सा लग रहा है, पर पूछना पड़ रहा है। इनमें से तुम कौन से रावण हो? –

एक कहत मोहि सकुच अति
रहा बालि की काँख । ६/२४
इन्ह महुँ रावण तैं कवन... ।। ६/२४

उद्देश्य दोनों का एक ही है। हनुमान जी का उद्देश्य है कि यदि प्रेम से समझ लेता है तो प्रेम से समझाऊँ और अंगद का उद्देश्य है कि जो सीधे से समझने का अभ्यस्त नहीं है, सम्मान पाकर उसका अहंकार और बढ़ेगा। अत: इसके अहं को तो इस सभा में ही समाप्त कर देना चाहिए। अहंकार मिट जाने पर शायद कुछ बदले। अंगद की भाषा में सर्वत्र आप ज्ञान पायेंगे। उनकी भाषा बड़ी विचित्र है। रावण कहने लगा – तुम्हारी सेना में कोई वीर नहीं है। कहते कहते अचानक उसके मुँह से निकल गया – बस, एक वीर है। – कौन? – उस बन्दर का नाम तो पता नहीं है, पर जो नगर जला गया था, हमें तो बस, वही वीर लगता है –

आवा प्रथमु नगर जेहि जारा । ६/२३/६

अंगद बोले – कहते क्या हो, क्या सचमुच किसी बन्दर ने तुम्हारा नगर जला दिया? अंगद ऐसे बोल रहे हैं, मानो उन्हें कुछ पता ही न हो। बोले – रावण, वह जो बन्दर आया था, क्या उसे तुम बहुत वीर समझ रहे हो? जो बड़ा तेज चलता है, वह कोई बहुत वीर थोड़े ही होता है। उसे तेज चलने का अभ्यास है, इसलिए उसे हमने खबर लेने भेज दिया था –

चलइ बहुत सो बीर न होई ।
पठवा खबरि लेन हम सोई ।। ६/२३/१०

इस प्रकार बोलकर अंगद ने रावण पर जो व्यंग्य किया, उसमें भी वही आध्यात्मिक तत्त्व है। वे रावण से कह सकते थे – तुम श्रीराम को पहचानते नहीं। वे तो हमारे पिता की, हमारी और तुम्हारी भी अन्तरात्मा हैं। यदि तुम उन सर्वव्यापक, सभी प्राणियों की अन्तरात्मा रूपी अद्वैत तत्त्व को पहचान लेते, तो शायद संघर्ष ही मिट जाता। पर अंगद कहते हैं –

सुनु सठ भेद होइ मन ताके ।
श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाके ।। ६/२१/१०

अंगद भी उसी सत्य की याद दिलाना चाहते हैं, रावण को बदलना चाहते हैं, पर वे कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं। फिर अंगद द्वारा हनुमान जी को छोटा कहे जाने में भी उनकी बड़ी चतुराई है। आगे देखिए, अंगद कितने गम्भीर हैं!

रावण को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा कि जब मैंने किसी योद्धा की प्रशंसा की तो इसे भी स्वीकार करना चाहिए था। पर इसके कहने से तो ऐसा लग रहा है कि, जैसे उसका कोई महत्त्व ही न हो। पर अंगद के दो उद्देश्य हो सकते हैं। एक तो यह कि यदि रावण के मन में ऐसी धारणा हो जायेगी कि हनुमान ही सबसे वीर हैं, तो वह सोचेगा कि ठीक है, मैं तो उस बन्दर के बल की थाह ले ही चुका हूँ, उसे तो मेरे बेटे ने बन्दी बना लिया था। ऐसा सोचकर वह युद्ध की दिशा में ही बढ़ेगा। पर इसके मन में किसी तरह यह छाप पड़ जाय कि वह बन्दर तो सामान्य योद्धा है, वास्तव में श्रीराम की सेना में सभी योद्धा उनसे भी अधिक वीर हैं, तो शायद इसके मन में युद्ध से विरत होकर सन्धि करने की वृत्ति आये।

पर अंगद का इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण संकेत यह था, जो आगे चलकर उन्होंने प्रगट किया। अंगद ने तो यहाँ तक कह दिया कि उस बन्दर को तो नगर जलाने की आज्ञा भी नहीं दी गई थी। उसने बिना आज्ञा नगर जला दिया, इसलिए वह डर के मारे लौटकर सुग्रीव के पास गया ही नहीं –

फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं
तेहि भय रहा लुकाइ । ६/२३

इसमें संकेत क्या है? कभी निन्दा में प्रशंसा होती है और कभी प्रशंसा में भी निन्दा होती है। बड़ा प्रसिद्ध वाक्य है – **असमझवार सराहिबो समझवार को मौन** – नासमझ यदि प्रशंसा करे और समझदार यदि मौन रह जाय तो सुजन, कवि या कलाकार व्यक्ति का हृदय विदीर्ण होने लगता है।

यदि किसी कलाकार की कोई मूर्खतापूर्ण प्रशंसा करे, तो क्या वह प्रसन्न होगा कि बड़ा गुणग्राही मिला? वह तो सिर पीट लेगा कि कहाँ से ऐसा मूर्ख श्रोता मिला। एक सज्जन

एक गायक की प्रशंसा करते हुए एक राग का नाम लेकर बोले – आपने यह राग बड़ा अच्छा गाया, तो उस गायक ने अपना सिर पीट लिया कि मैंने तो यह राग गाया ही नहीं। अब इसे प्रशंसा मानें या निन्दा? हनुमान जी की प्रशंसा करते समय रावण के मुख से जो वाक्य निकला, उसे सुन हनुमान जी जरा भी प्रसन्न नहीं हुए। आगे हनुमान जी ने कहा – बराबरी तो हमारी-तुम्हारी है, आज निर्णय हो जाय। रावण बोला – ठीक है। पहले रावण ने मुक्का चलाया। हनुमान जी ने पृथ्वी पर घुटने टेककर उसका प्रहार झेल लिया और जब हनुमान जी ने मुक्का चलाया तो रावण मूर्छित हो गिर पड़ा। थोड़ी देर बाद रावण उठकर हनुमान जी का प्रशंसा करने लगा – अरे बन्दर, तू तो बड़ा बलवान है। बड़ी शक्ति है तुझमे –

मुरुछा गै बहोरि सो जागा।
कपि बल बिपुल सराहन लागा।। ६/८४/३

हनुमान जी को बड़ा प्रसन्न होना चाहिए था कि आज शत्रु मेरे बल की धाक मान रहा है, पर वे गम्भीर होकर बोले – धिक्कार है, धिक्कार है। रावण चिढ़कर बोला – अरे! मैं तुम्हारी प्रशंसा कर रहा हूँ और तुम मुझे धिक्कार रहे हो? हनुमान जी बोले – तुम्हें नहीं, स्वयं को धिक्कार रहा हूँ। – स्वयं को क्यों धिक्कार रहे हो? बोले – मेरा मुक्का खाकर भी तुम जीवित हो, तो फिर मेरे मुक्के में क्या विशेषता हुई?

धिग धिग मम पौरुष धिग मोही।
जौं तैं जियत रहेसि सुरद्रोही।। ६/८४/४

इसका सांकेतिक अभिप्राय है। हनुमान जी मूर्तिमान वैराग्य हैं और रावण मूर्तिमान मोह। हनुमान जी का तात्पर्य था कि **वह वैराग्य का मुक्का भी किस काम का, जिसे खाने के बाद भी मोह जीवित रहे।** वैराग्य का मुक्का तभी सार्थक है, जब उसके प्रहार से मोह पूर्णतः मिट जाय, पर तुम तो ज्यों के त्यों बचे हो, तो यह मुक्का तो किस काम का! मै तुम्हारी प्रशंसा से जरा भी प्रभावित नहीं हूँ।

अंगद ने रावण की बात को कब बुरा मान लिया? जब उसने हनुमान जी को बन्दर कह दिया –

है कपि एक महा बलसीला।।
आवा प्रथम नगर जेहिं जारा।
सुनत बचन कह बालिकुमारा।। ६/२३/५-६

अंगद मन-ही-मन चिढ़ गए। बोले – कैसा मूर्ख है। देख लिया कि हनुमान जी ने पूरे नगर को जला दिया, उसके बाद भी उन्हें बन्दर ही कह रहा है। इसलिए अंगद ने रावण से पूछा – अच्छा, यह बता कि गंगा भी कोई नदी है?

किसी ने गंगा की प्रशंसा में कह दिया – गंगा सर्वश्रेष्ठ नदी है, तो बड़ी सूक्ष्म वृत्तिवाले व्यक्ति ने सिर पकड़ लिया। उन्होंने पूछा – आप गंगा की प्रशंसा कर रहे हैं कि निन्दा? गंगा को नदी कहने से बढ़कर गंगा का क्या अपमान होगा? कहते हैं कि एक व्यक्ति ने निर्जला एकादशी का व्रत किया था। बिना पानी पीये रहने का एकादशी व्रत और वे गंगा के दिव्य प्रवाह में भर-पेट जल पी रहे थे। किसी ने पूछा – "यह कैसा निर्जला व्रत है, आप तो जल पीये जा रहे हैं?" वे बोले – "यह जल है या अमृत? मैंने जल न पीने की प्रतिज्ञा की है, अमृत न पीने की प्रतिज्ञा नहीं की है।" ब्रह्म का जो द्रव रूप है, वह गंगा है।

अंगद ने यही बात रावण के सामने दुहराई। वे कहते हैं –

धन्वी कामु नदी पुनि गंगा।
वसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा। ६/२६/५-६

एक ओर तो तू हनुमान जी की प्रशंसा कर रहा है और फिर उन्हें बन्दर भी कह रहा है। यदि तुझमें थोड़ी भी बुद्धि होती तो उनके लिये बन्दर शब्द का प्रयोग न करता। क्या वे सचमुच बन्दर हो सकते है? उन्होंने तुम्हारे पुत्र का वध कर दिया, लंका जला दी, तो भी तुम उनके स्वरूप को नहीं पहचान पाये? यह दुर्भाग्य है तुम्हारा। तुम उनकी प्रशंसा भी कर रहे हो तो बन्दर कहकर!

अंगद ने प्रारम्भ में जो वाक्य हनुमान जी के लिए कहे, वह भले ही रावण पर व्यंग्य करने के लिए कह रहे हों, पर उनका अन्तिम लक्ष्य सर्वदा गम्भीर था। वे तो हनुमान जी को इतना आदर देते थे कि उनके लिए बन्दर शब्द सुनते ही उनको चोट लगती है और वे रावण को फटकारते हैं। रावण की सभा में यह जो अंगद का पैर रोपना और यह कहना कि तुम्हारी सभा मे यदि किसी ने भी मेरा पैर हटा दिया तो मैं सीताजी को हार जाऊँगा और श्रीराम लौट जायेंगे। अंगद की इस घोषणा के बाद रावण की सभा के सभी व्यक्तियों के प्रयत्न करने के बाद भी अंगद का पैर न हटना ... इसका अभिप्राय क्या है? इस एक कार्य के द्वारा ज्ञान की दृष्टि से, भक्ति की दृष्टि से, कर्म की दृष्टि से और शरणागति की दृष्टि से, अंगद इतने महान् सन्देश दे रहे थे कि गोस्वामी जी ने इसे बड़े भावनात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। पैर रोपने के पीछे अंगद का उद्देश्य शक्ति-प्रदर्शन अथवा आत्मश्लाघा बिलकुल नहीं थी। जब रावण की सभा में कोई भी राक्षस उनका पैर नहीं हटा सके, तब अन्त में वह स्वयं उठा। अंगद यदि आत्मश्लाघा से भरे होते, तो उसे भी पैर हटाने का अवसर देते। पर नहीं, आत्मविज्ञापन उनका लक्ष्य नही था। रावण ज्योंही अंगद के पैर की ओर झुका, तो वे कहते हैं – तुम इतने नीचे गिर गए कि बन्दर का पैर पकड़ रहे हो। अरे, तुम्हे ईश्वर का पैर पकड़ना चाहिए –

मम पद गहें न तोर उबारा।
गहसि न राम चरन सठ जाई। ६/३५/२-३

अंगद ने पैर खींच लिया। पता चल गया कि अंगद अपना अहं प्रदर्शित नहीं कर रहे थे। वे तो किसी भी तरह से रावण को समझाना भर चाहते थे। ❖ **(क्रमशः)** ❖

कर्तव्य-रसायन

स्वामी सत्यरूपानन्द

२०वीं शताब्दी ही नहीं ईसा की दूसरी सहस्राब्दि भी समाप्त हो चुकी है। मानव जाति के इतिहास पर एक विहगम दृष्टि डालने पर हम यह देख पाते हैं कि मानव समाज में जब कभी जिन-जिन युगों में शान्ति रही है, समाज में समृद्धि रही है, व्यवस्था रही है, उन सभी युगों में विश्व के सभी देशों और समाजों में ऐसे लोगों का बाहुल्य रहा है जो कि कर्तव्य-परायण रहे हैं। जिन्होंने कभी अपने अधिकारों की ओर ध्यान नहीं दिया। उनकी कभी चर्चा नहीं की। अधिकार माँगने या प्राप्त करने का उनके जीवन में प्रश्न ही कभी उपस्थित नहीं हुआ। ऐसे कर्तव्य-परायण व्यक्तियों द्वारा ही समाज में सुख, शान्ति और समृद्धि स्थापित होती है।

स्वाधीनता प्राप्ति के ५० वर्षों पश्चात् आज हमारे सामने एक प्रश्नचिह्न उपस्थित है। स्वाधीन होकर क्या हम उस सुराज की, रामराज्य की स्थापना कर पाये जिसका स्वप्न हमारे स्वाधीनता-संग्राम के नेताओं ने देखा था? जिस स्वाधीनता संग्राम के महायज्ञ में हमारे सैकड़ों युवक-युवतियों ने अपने जीवन की आहुति दे दी, उस महायज्ञ के सुफल को क्या हमने सुरक्षित रखा है? क्या हमारी स्वाधीनता जनता को दुख-दारिद्र्य और अज्ञान के अन्धकार से मुक्त कर पाई है?

राजनीतिक अस्थिरता, आर्थिक विषमता, सामाजिक विघटन, धार्मिक असहिष्णुता, नैतिक अधःपतन आदि को देखने पर तो उत्तर निषेधात्मक ही मिलता है।

हम अपने स्वतन्त्रता सेनानियों के स्वप्न तो पूरे कर ही न सके, उल्टे हमने उनके अधिकाश स्वप्न भंग ही किये हैं। उतना ही नहीं उनके स्वप्नों के सर्वथा विपरीत आचरण कर आज हमने अपनी अस्मिता को ही सकट में डाल दिया है। हमारे नैतिक मूल्य, हमारी ग्संस्कृतिक धरोहर ही आज मूर्छित है, मरणासन्न है। यह एक तथ्यात्मक कथ्य है, विवाद का विषय नहीं है।

अब प्रश्न यह है कि इस संकट से कैसे उबरा जाय? मुमूर्षु नैतिक मूल्यों तथा मूर्छित सांस्कृतिक चेतना को कैसे जगाया जाय? कानूनों, विधि-विधानों, राजनैतिक चेष्टा व परिवर्तनों, आर्थिक समीकरणों आदि से यह कर पाना सम्भव नहीं हुआ, यह मध्याह्न सूर्य के समान स्पष्ट दीख रहा है।

इसका निदान केवल आध्यात्मिक जागृति द्वारा ही सम्भव है। व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना को जागृत कर ही उसे नैतिक पतन से बचाया जा सकता है। एक बार यदि व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से सजग और सावधान हो जाय तो उसकी नैतिक चेतना स्वय ही जागृत व सक्रिय हो उठती है।

आध्यात्मिक जागरण का प्रथम सोपान है स्वधर्म की पहचान और उसका आचरण। संसार में जन्म लेनेवाले हर व्यक्ति के लिये परमात्मा ने कुछ-न-कुछ कर्म निर्धारित कर रखे हैं। जन्म से मृत्युपर्यन्त व्यक्ति को कुछ-न-कुछ कर्म अवश्य करना पड़ता है। कर्म न करने पर हमारी जीवन यात्रा ही न चलेगी। अतः कर्म करना अनिवार्य एवं अपरिहार्य है।

हमारे जन्म, समाज, परिस्थितियों आदि से जो कर्म हमें मिला है, उसके द्वारा ही हम अपनी आध्यात्मिक चेतना को जगाकर समाज और राष्ट्र की सेवा कर सकते हैं। भारत माता की समृद्धि और विकास के महायज्ञ में सहभागी हो सकते हैं।

कर्म निर्माण और ध्वंस दोनों का कारण हो सकता है, होता है। जब कभी हम केवल अपनी स्वार्थ की पूर्ति के लिये, केवल अपनी सुख-सुविधा और भोग के लिये कर्म करते हैं, तभी वह दूषित हो जाता है। उतना ही नहीं वह आत्मघाती भी हो जाता है। स्वार्थ प्रेरित कर्म अन्ततः व्यक्ति और समाज दोनों के लिये हानिकारक ही होता है।

आज हमारा देश एक सक्रमणकाल से गुजर रहा है। हमारी अस्मिता और सस्कृति पर संकट के बादल छाये हुये हैं। चारों ओर निराशा, अविश्वास और भय का आतंक समाया हुआ है।

इस विषम परिस्थिति से निकलने का सहज और श्रेष्ठ उपाय है – अपने कर्तव्यों का पालन करना। हम जहाँ जिस स्थिति में हैं, वहीं यदि हम निष्ठापूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करें तो हम अपने देश को इस संकट से अवश्य उबार सकते हैं।

कर्तव्य पालन की प्रथम शर्त है कि व्यक्ति अपने कर्तव्य पालन के बदले कुछ नहीं चाहता। वह प्रतिदान नहीं चाहता। 'कर्तव्य पालन के लिये ही कर्म' – यही उसके कर्म करने की प्रेरणा का स्रोत है।

कर्तव्यशील व्यक्ति कर्म के प्रति पूर्णतः समर्पित होता है। अपने कर्तव्य कर्म के प्रति उसके हृदय में प्रेम होता है। यही कर्तव्य-प्रेम वास्तव में उसकी कर्म-प्रेरणा का स्रोत होता है। ऐसा कर्तव्य-प्रेमी व्यक्ति मन-प्राणपूर्वक कर्म करता है, इस

कारण उसके सभी कर्म सुव्यवस्थित तथा उत्तम रीति से सम्पन्न होते हैं। इस कर्तव्य-प्रेम के कारण उसकी कर्म-क्षमता भी दिनो-दिन उन्नत एवं उत्कृष्ट होती जाती है। परिणाम-स्वरूप उसके कर्मों के फल भी अधिकाधिक उन्नत, श्रेष्ठ तथा लोक कल्याणकारी होते जाते हैं। इस प्रकार कर्तव्य परायण व्यक्ति अनायास ही समाज-सेवक बन जाता है तथा उसके कर्मों का सुफल समाज को सहज ही प्राप्त हो जाता है।

कर्तव्य-परायण व्यक्ति निःस्वार्थ तथा परोपकारी होता है। अपने कर्मों का फल वह स्वयं के लिये नहीं चाहता। जिसके प्रति वह कर्तव्य पालन करता है, उसकी सुख-समृद्धि, उसके सर्वांगिण कल्याण की एकमात्र आकाक्षा उसके मन में हुआ करती है। ऐसा व्यक्ति देश और समाज के लिये वरदान सिद्ध होता है।

यदि हम अपनी स्वाधीनता के १०० वर्ष पूर्व के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हम पायेंगे कि हमारे देश में हजारों की संख्या में ऐसे देशभक्त थे जिनके जीवन का एकमात्र कर्तव्य था – भारत माता की सेवा तथा उसकी स्वाधीनता के लिये आमरण प्रयत्न।

कितने ऐसे लोग हो गये जिन्होंने धर्म और संस्कृति की सेवा तथा उत्थान को ही अपने जीवन का कर्तव्य कर्म बना लिया तथा उसके लिये अपना जीवन ही उत्सर्ग कर दिया।

कितने महापुरुषों ने समाजिक कुरीतियों, छुआछूत, बाल-विवाह आदि कुप्रथाओं को दूर करना ही अपने जीवन का पुनीत कर्तव्य बना लिया तथा जीवनभर उस कर्तव्य के पालन में लगे रहे।

राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्ति के प्रयत्न को अपना पुनीत कर्तव्य मानकर कितने देशभक्तों ने अपने प्राणों तक की आहुति दे दी। उनकी कर्तव्य-परायणता और बलिदान के कारण ही आज हम स्वाधीन भारत के नागरिक हैं।

हमारी स्वाधीनता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये, हमारे राष्ट्र की अस्मिता को सुरक्षित रखने के लिये, हमारे राष्ट्र की उन्नति और समृद्धि के लिये यह परम आवश्यक है कि हम अपने अतीत का स्मरण कर उससे प्रेरणा ले अपने अपने कर्तव्य कर्म करने के लिये कटिबद्ध हो जायँ। भारत के सर्वांगिण विकास व कल्याण का यही सुलभ राजमार्ग है। ❑

इतना प्यार जगे जन जन में

डॉ. भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

इतना प्यार जगे जन-जन में,
धरती नन्दन-वन हो जाए।
युगों युगों से मानव मन का
अब साकार स्वपन हो जाए।।

जड़ में भी अब कोपल फूटे,
जाल जटिल जड़ता का टूटे,
द्वेष-कपट का विष घट फूटे,
कोई नहीं किसी को लूटे,
छूटे मैल मलिन भावों का
उज्ज्वल जन जीवन हो जाए।
इतना प्यार जगे जन-जन में,
धरती नन्दन-वन हो जाए।।

उतरें धरती पर नभ तारे,
सजे अल्पना सब के द्वारे,
सबको लगें सभी जन प्यारे,
कोई नहीं रहे मन मारे,
सच्ची समता-समरसता ही
सबका जीवन-धन हो जाए।
इतना प्यार जगे जन-जन में,
धरती नन्दन-वन हो जाए।।

ज्योति सुमति की सब में जागे,
भेद-भाव का भय भी भागे,
धरती नहीं धैर्य को त्यागे,
हों न कभी लोग अभागे,
सद्भावों को शुभ सपनों से
सुरभित सब का मन हो जाए।
इतना प्यार जगे जन-जन में,
धरती नन्दनवन हो जाए।।

जीने की कला (२०)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागो में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

सुस्पष्ट विरोधाभास

कन्नड़ भाषा में श्रीयुत कोटा वसुदेव कारन्थ द्वारा लिखित 'दान करो' पुस्तक बताती है कि कैसे पाश्चात्य धन-लोलुपों ने सद्गुण के इस उच्च आदर्श का बंटाधार कर दिया है –

"पाश्चात्य देशों के ईसाई समुदाय ने अपनी नौसेना, तोपों तथा बन्दूकों की सहायता से सम्पूर्ण संसार का विजय-अभियान शुरू किया। उन्होंने जिस देश की धरती पर भी पैर रखा, उस पर आधिपत्य कर लेना चाहा। उनका विश्वास था कि उन्हीं के राजा को उनके द्वारा विजित सभी देशों पर शासन करने का अधिकार था। उन्होंने उन देशों के स्थानीय निवासियों को कभी उस देश का उचित स्वामी नहीं माना। उनका विचार था कि विजेताओं के लिए उपनिवेशों की प्रजा की लूट-पाट, उन्हें दास बनाना, उनसे अपना समस्त कार्य करा लेना तथा उपनिवेशों की समस्त धन-सम्पदा को बलात् अपने गृह-देश ले जाना सर्वथा स्वाभाविक तथा उचित है।

"इसी तरह की दुर्भावना के फलस्वरूप उत्तरी अमेरिका पर विजय किया गया। वहाँ की आदिवासी रेड-इंडियन प्रजा व्यापक लूट-पाट और शोषण का शिकार हुई और अपने ही देश में अल्पसंख्यक बनकर रह गई। विशाल दक्षिण अमेरिकी महाद्वीप स्पेन का एक उपनिवेश बन गया। श्वेत लोग आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका के सर्वोत्तम भूखण्डों पर कब्जा करके वहाँ बस गये। श्वेत मालिकों के लिए दासोचित कर्म करना ही अश्वेतों के लिए हितकर कर्म माना गया। जब पाश्चात्य ईसाई लोग संसार भर के विभिन्न क्षेत्रों में लूट-पाट कर रहे थे, तभी उनके पुरोहितों ने उपनिवेशों की प्रजा को सभ्य बनाने के अपने तथाकथित उद्देश्य के साथ उनका बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन आरम्भ किया। उन्होंने लूट के माल का एक अंश स्कूलों तथा अस्पतालों को दान कर दिया, परन्तु यह सेवाभाव से नहीं, अपितु केवल ईसाई धर्म को सर्वोत्तम सिद्ध करने तथा अपने धर्ममत को मजबूत करने के लिए किया गया।"

इस सन्दर्भ में हार्वर्ड के अमेरिकी विश्वविद्यालय में समाज-शास्त्र के विभागाध्यक्ष एवं प्रसिद्ध प्राध्यापक प्रिट्रिम ए. सोरोकिन की पुस्तक 'मानवता का पुनर्निर्माण' से यह उद्धरण दिया जा सकता है, "गत कुछ सदियों के दौरान वस्तुत: पाश्चात्य ईसाई जगत् ही सर्वाधिक युद्धोन्मत्त, सर्वाधिक आक्रामक, सर्वाधिक लोभी और मानवता का सर्वाधिक अधिकारोन्मत्त वर्ग रहा है। इन सदियों के दौरान पाश्चात्य ईसाईयत ने अन्य सभी महाद्वीपों पर आक्रमण किया। इसके पुरोहित और व्यापारियों ने इसकी सेनाओं का अनुसरण करके निरन्तर आदिम जातियों से लेकर गैर-ईसाई देशों तक के अधिकाधिक गैर-ईसाई लोगों को अपने अधीन करके व्यापक लूट-पाट की। इस विचित्र प्रकार के ईसाई 'प्रेम' द्वारा अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया व एशिया की जनता को पराधीन बनाया गया। क्रूर हत्याएँ, दास बनाने की प्रथा, उत्पीड़न, पराजित जातियों के सांस्कृतिक मूल्यों, संस्थाओं तथा जीवन-पद्धति का विनाश, मद्यपान की संस्कृति का विस्तार, यौन-रोग, व्यावसायिक प्रतिद्वन्दिता और ऐसी अन्य प्रवृत्तियों के द्वारा ही सामान्यत: इस विचित्र 'प्रेम' को अभिव्यक्ति मिली। वैसे पाश्चात्य लोगों ने उन्हें (अस्पताल और चिकित्सीय सेवाओं के रूप में) सहायता और संरक्षण, प्रेमपूर्ण सहानुभूति, शिक्षा, स्वाधीनता और लोकतंत्र के रूप में सच्ची ईसाईयत को कुछ हद तक प्रदान तो किया है, परन्तु ये वरदान मानो 'घड़े में एक बूँद' ही साबित हुई हैं।"

प्राचीन वृक्ष पर नयी कलियाँ

हमारी संस्कृति की जड़ें अब भी मजबूत हैं, यह बात इस तथ्य से सिद्ध होती है कि विगत दो शताब्दियों की प्रतिकूल अवस्था के बावजूद इसने अपनी पारिपार्श्विक बाधाओं को पार करके स्वस्थ फल उत्पन्न किये हैं। घोर संकट के समय लोगों को सन्मार्ग पर चलाने को आध्यात्मिक महापुरुष पैदा हुए। यह कोई बेसिर-पैर की बात नहीं है और न ऐसी घटनाएँ केवल महाकाव्यों के युग तक ही सीमित हैं।

जब अंग्रेजों का आधिपत्य सुस्थापित हो चुका था, भारतीय सामरिक पराक्रम क्षीण हो चुका था। आर्थिक दशा अवनत हो रही थी, आध्यात्मिक मूल्यों को व्यर्थ कहकर उनकी निन्दा की जा रही थी। और भारतवासी विदेशियों के रंग-ढंग की नकल कर रहे थे। इसी संक्रमण-काल में दक्षिणेश्वर के देवमानव श्रीरामकृष्ण आध्यात्मिक क्षितिज पर प्रकट हुए। वे १९वीं सदी में ब्रिटिश भारत की राजधानी कलकत्ते में अवतीर्ण हुए। उन्होंने विश्वविद्यालयों के आधुनिक शिक्षाप्राप्त संशयवादियों को चुनौती दी और उन्हें प्रशिक्षित करके सत्य के आलोक में विभिन्न धर्मों के महत्त्व को समझाया। उन्होंने केवल उपदेश ही नहीं दिये, अपितु अपने निजी अनुभवों से दिखा दिया कि ऋषियों द्वारा प्रतिपादित प्राचीन भारतीय परम्परा में आधुनिक

विज्ञान द्वारा उठाये गए सभी प्रश्नों के उत्तर मिल सकते हैं। उन्होंने केवल धर्म के सारतत्त्व की ही शिक्षा दी।

श्रीरामकृष्ण के प्रधान शिष्य और प्राचीन भारतीय परम्परा के भाव-विग्रह स्वामी विवेकानन्द शिकागो की धर्म-महासभा में इसके ओजपूर्ण प्रवक्ता बने। उन्होंने वहाँ पर प्राचीन भारतीय चिन्तन का ध्वज फहराया। इस प्रकार उन्होंने भारतवासियों के स्वाभिमान की पुनर्प्रतिष्ठा की। यह एक महान् घटना थी, जिसने भारतवासियों को अपना वैशिष्ट्य सुरक्षित रखकर विदेशी शासन से मुक्ति की कामना और उत्कट राष्ट्रीय भावना के विकास हेतु प्रेरित किया। यह एक ऐसी घटना थी, जिसने लोगों के भीतर सुदृढ़ देशभक्ति की भावना जगाई और समस्त देशवासियों के हितार्थ बलिदान और सेवा का सन्देश दिया। बाद में, महात्मा गाँधी के नेतृत्व में भारत ने ऐसे अनूठी विधि से स्वाधीनता हासिल की, जैसी कि विश्व के किसी भी अन्य देश ने कभी प्राप्त नहीं की थी। विश्व के सभी महान् लोग गाँधीजी की नैतिक निष्ठा, आध्यात्मिक उत्कृष्टता और बलिदान तथा सेवा-भाव को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। पाश्चात्य दार्शनिकों ने कहा था, "केवल भारत ही ऐसे महान् व्यक्ति को उत्पन्न कर सकता है।" सच्चा आध्यात्मिक जीवन बितानेवाले रमण महर्षि तथा श्री अरविन्द ने अनेक साधकों को प्रेरणा दी। ये २०वीं शताब्दी के पाँचवें दशक तक जीवित रहे। शिक्षित लोगों को स्मरण होगा कि अन्य देशों के सत्तासीन राजनीतिक नेतागण कैसा बर्ताव करते थे। इसे विस्मृत नहीं किया जा सकता कि पूर्ण शक्तिसम्पन्न स्टालिन, मुसोलिन और हिटलर जैसे तानाशाहों ने अपने शासनकाल में हजारों नर-नारियों को पीड़ित और विनष्ट किया। परन्तु दूसरी ओर लम्बे समय तक भारत के प्रधानमन्त्री रहे जवाहरलाल नेहरू भारत में लोकतंत्र की रक्षा और विश्व में शान्ति-स्थापना हेतु सतत प्रयत्नशील रहे। क्या ऐसा हमारी सांस्कृतिक परम्परा के कारण ही नहीं हुआ? वैज्ञानिक दृष्टिकोण, तार्किकता या आधुनिकता चाहे जितनी भी मजबूत क्यों न रही हो, हमारी संस्कृति का तरुवर अटल रहकर नयी नयी कलियाँ प्रस्फुटित करता रहा है। हमारे इतिहास ने इस बात को बारम्बार दिखा दिया है।

अपनी संस्कृति और आध्यात्मिकता की शक्ति से परिचित हुए बिना हम अपने उज्ज्वल भविष्य की आशा नहीं कर सकते। हमारी संस्कृति और आध्यात्मिकता ने ही राष्ट्रहित के लिए कार्य करने हेतु हमें एकीभूत और प्रेरित किया है।

आध्यात्मिकता – प्रेम का स्रोत

प्रेम की महत्ता पर चर्चा करते समय हमें अप्रत्यक्ष रूप से उसका उद्गम धर्म में ही मिला था। हर व्यक्ति को अनुभव होना चाहिए कि आध्यात्मिकता के बिना मानवता का कोई भविष्य ही नहीं है। यह सर्वज्ञात तथ्य है कि निःस्वार्थ या दिव्य प्रेम आत्मज्ञानी महापुरुषों के हृदय में ही एक विशेष रूप में अभिव्यक्त होता है। यद्यपि हमारे देश में असंख्य महापुरुषों का आविर्भाव हो चुका है, तथापि हमें ध्यान रखना होगा कि हर देश में ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने लोगों को आध्यात्मिक रूप से सत्पथ पर परिचालित किया। प्रत्येक व्यक्ति को इस दिव्य या निःस्वार्थ प्रेम का आचरण करना चाहिए और हर व्यक्ति ऐसा अवश्य कर सकता है। आध्यात्मिक शिक्षा का अभाव संसार को विनाश के कगार पर ले जा रहा है।

लाखों माताओं के प्रेम से युक्त एक हृदय

महापुरुषों का हृदय हजारों माताओं के प्रेम तथा कोमलता से युक्त होता है। स्वामी विवेकानन्द इसके गौरवशाली उदाहरण हैं। उनका प्रेम कितना गहरा और व्यापक था! शिकागो की धर्म-महासभा में अपने ओजपूर्ण भाषण के बाद जिस दिन वे प्रसिद्धि के शिखर पर थे और वहाँ के धनवानों ने उनके स्वागतार्थ अपने घरों के द्वार खोल दिये थे, उस रात उनकी आँखों में निद्रा का नामो-निशान तक नहीं था। उस रात वे अपनी ख्याति या अपूर्व वक्तृता के बारे में नहीं सोच रहे थे, बल्कि अपने उन देशवासियों के लिए रोते रहे, जिन्हें भोजन का एक ग्रास तक नहीं मिलता। वे उन देशवासियों की मदद करना चाहते थे। उनका हृदय लाखों माताओं के प्रेम से भरा था। उनका हृदय करुणा व सहानुभूति का महासागर था।

उन्होंने कठिन परिश्रम के द्वारा बेलूड़ मठ स्थापित किया था। एक बार कलकत्ता नगर प्लेग की महामारी का शिकार हो गया। स्वामीजी लोगों के दुख-कष्ट से इतने अधीर व विचलित हो गए कि तत्काल राहत-कार्य में कूद पड़े। उन्होंने घोषणा की, "लोगों की सहायता करने हेतु मैं अपने मठ को बेच दूँगा। हम लोग तो पेड़ों के नीचे भी रह लेंगे।" दुख-कष्ट से पीड़ित सन्तान के कराहने पर माता अपने हृदय में अवर्णनीय पीड़ा का अनुभव करती है। हजारों माताओं के प्रेम की तीव्रता को धारण करनेवाले महापुरुषों द्वारा अनुभूत पीड़ा की तीव्रता की कोई सहज ही कल्पना कर सकता है।

एक बार स्वामी विवेकानन्द बेलूड़ मठ में थे। रात के कोई एक बजे वे अपने कमरे के बरामदे में चहलकदमी कर रहे थे। थोड़ी देर बाद श्रीरामकृष्ण के एक अन्य शिष्य और स्वामीजी के गुरुभाई स्वामी विज्ञानानन्द वहाँ आये और स्वामी विवेकानन्द से पूछा, "स्वामीजी, अभी तक आप सोये नही?" स्वामीजी ने कहा, "वस्तुतः मैं सो गया था, परन्तु कुछ देर बाद अनेक लोगों के दर्दनाक क्रन्दन को सुनकर मैं जाग गया।" विज्ञानानन्द इस बात का मर्मार्थ नही समझ सके और वे कुछ भ्रमित से होकर अपने कमरे में आ गए। अगले दिन सुबह अखबारो से पता चला कि हजारों मील दूर भूमध्य-सागर के पास आए तेज भूकम्प ने हजारों लोगों की बलि ले ली है। उन लोगों की मृत्यु

के क्षण की हृदय-विदारक चीत्कार के स्वर से स्वामी विवेकानन्द का मातृसुलभ हृदय स्पन्दित हो उठा था।

सामान्यत: एक माता ही अपनी दृष्टि से ओझल रहनेवाली सन्तानों या प्रियजनों की पीड़ा का अनुभव करती है, पर वह समान रूप से दूसरों की पीड़ा को अनुभव नहीं कर पाती। परन्तु आत्म-साक्षात्कारी महापुरुष हर समय दूसरों की पीड़ा की अनुभूति करते रहते हैं। वे किसी पुरस्कार की आकांक्षा के बिना ही निष्काम भाव से लोगों की पीड़ा दूर करने हेतु दिन-रात सचेष्ट रहते हैं। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि सांसारिकता से परे रहनेवाले ये महापुरुष नि:स्वार्थ भाव से दूसरों को दुख-कष्टों से बचाते रहते हैं। यह एक महान् सत्य है।

पर-दुख-कातर हृदय

स्वामीजी ने कहा था, "नेता बनने की इच्छा रखनेवालों के पास संवेदनशील हृदय होना चाहिए।" उनके मतानुसार, "बड़े कार्यों के लिए तीन चीजों की जरूरत होती है। पहली है हृदय की अनुभव-शक्ति। क्या तुम अनुभव करते हो? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देवताओं और ऋषियों की करोड़ों सन्तानें आज पशुतुल्य हो गई हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि आज लाखों आदमी भूखों मर रहे हैं और लाखों लोग सदियों से भूखों मरते आये हैं? क्या यह सब सोचकर तुम बेचैन हो जाते हो? क्या इससे तुम्हारी आँखों की नींद उड़ जाती है? क्या यह चिन्ता तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर तुम्हारी धमनियों में बहती है? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से मिल गई है? क्या इसने तुम्हें पागल-सा बना दिया है? क्या देश की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है? और क्या इस चिन्ता में विभोर हो जाने से तुम अपने नाम-यश, पुत्र-कलत्र, धन-सम्पत्ति और यहाँ तक कि अपने शरीर तक की सुध भूल चुके हो? क्या तुमने ऐसा किया है? यदि 'हाँ', तो तुमने देशभक्त बनने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है – केवल पहली ही सीढ़ी पर। ... क्या तुमने इस दुर्दशा का निवारण करने के लिए कोई यथार्थ कर्तव्य-पथ निश्चित किया है? क्या लोगों की भर्त्सना न कर उनकी सहायता का कोई उपाय सोचा है? क्या स्वदेशवासियों को उनकी इस जीवन्मृत अवस्था से बाहर निकालने के लिए कोई मार्ग ठीक किया है? क्या उनके दुखों को कम करने के लिए दो सांत्वनादायक शब्दों को खोजा है? ... परन्तु इतने से ही पूरा न होगा। क्या तुम पर्वताकार विघ्न-बाधाओं को लाँघकर कार्य करने के लिए तैयार हो? यदि सारी दुनिया हाथ में नंगी तलवार लेकर तुम्हारे विरोध में खड़ी हो जाय, तो भी तुम जिसे सत्य समझते हो, क्या उसे पूरा करने का साहस करोगे? ... तो भी क्या तुम उसमें लगे रहकर अपने लक्ष्य की ओर सतत बढ़ते रहोगे? क्या तुममें ऐसी दृढ़ता है? ये तीन चीजें यदि तुममें हैं, तो तुममें से प्रत्येक अद्भुत कार्य कर सकेगा।"

यदि आज के सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक नेताओं में इस प्रेम और सहानुभूति का रंचमात्र भी प्रकट हो जाय, तो समग्र समाज का उत्थान हो जाएगा।

करुणा का विकास करो

महाभारत में लिखा है कि अपने चारों ओर रहनेवाले जीवों के प्रति करुणा, सहानुभूति और प्रेम प्रदर्शित करना ही सर्वोच्च धार्मिक साधना है।

युधिष्ठिर अपने प्रिय कुत्ते को मृत्युलोक में छोड़कर स्वर्ग जाने के इच्छुक नहीं थे। वे चरित्र की इस अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सदाचार-परायणता के एक उदाहरण बन गए। यद्यपि उनका कुत्ता कोई सदाचारी नहीं था, तो भी युधिष्ठिर उसे एकाकी छोड़कर अकेले स्वर्ग जाने को तैयार नही हुए। यह घटना उनकी सहानुभूति, करुणा एवं पर-दुख-कातरता दर्शाती है। उनकी करुणा ने ही उन्हें महापुरुष बना दिया।

हम परम दयामय ईश्वर से सदैव अपने ऊपर दया करने, कृपा करने तथा रक्षा करने की विनती करते हैं। परन्तु क्या हम इस विषय में सचेत हैं कि हमें उन्हीं भगवान की सन्तान – अपने आसपास के समस्त प्राणियों के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए? यदि हम उनकी परवाह नहीं करते, तो क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारी प्रार्थना निकृष्ट और स्वार्थपूर्ण है? क्या यह वर्ष में एक बार गाय की पूजा करके पुण्य अर्जित करने और बाकी दिन उसकी उपेक्षा करने के समान नहीं है? दार्शनिक शॉपेनहावर ने कहा है कि पशुओं के प्रति क्रूरता दिखानेवाले लोग कभी सज्जन नहीं हो सकते।

यह दिखाने के लिए असंख्य उदाहरण विद्यमान हैं कि पशु अपने प्रति किये गए किसी सदाचार को न तो कभी भूलते हैं और न ही कभी अपने हितकारकों के प्रति कृतघ्नता दिखाते हैं। एक बार गोआ के एक बाजार-मार्ग पर एक उन्मत्त हाथी सर्वनाश कर रहा था और अपने सामने पड़नेवाली सभी चीजों को नष्ट कर रहा था। मार्ग में उसे एक बच्चा मिला। हाथी ने उसे सूँड़ से उठाकर, बिना कोई क्षति पहुँचाये, एक दुकान के बरामदे में रख दिया और पुन: विनाश का कहर ढाने लगा। कई वर्षों पूर्व उस हाथी के सड़क पर निकलने पर बच्चे की माँ उसे कुछ-न-कुछ खिलाया करती थी। अपनी पागलपन की अवस्था में भी हाथी वह उपकार नहीं भूल सका था।

चित्रकूट में, पयोष्णी नदी के तट पर एक अन्य घटना घटी थी। सायंकाल एक बालक फिसलकर नदी में गिर गया और धारा में बहने लगा। बालक की माँ उसे गिरते देखकर सहायता के लिए चिल्ला रही थी। सहसा उसने किसी के कूदने की आवाज सुनी और वह उसी दिशा में देखने लगी। एक बड़ा बन्दर नदी मे कूद पड़ा था। उसने बच्चे को उठाकर उसकी माँ के पास रखा और तत्काल गायब हो गया।

ऐसी कई घटनाएँ सुनने में आती हैं, जिनमें पिछले विश्व-युद्ध के दौरान कुत्तों ने सैनिकों की कई प्रकार से सहायता की थी। बेल्जियम की पुलिस के एक कुत्ते ने एक वर्ष की अवधि में दो हजार लोगों की जान बचाने का चमत्कार किया था। यहाँ तक कि मूक पशु भी निश्चित रूप से प्रेम को समझते हुए उसका आदान-प्रदान कर सकते हैं। पशुओं के प्रति निर्दयतापूर्ण व्यवहार करना अनुचित है। परन्तु स्वार्थी लोग अपनी सहायता कर चुके पशुओं के प्रति भी कृतघ्नता का व्यवहार करते हैं। इंग्लैंड में पशुओं के प्रति दुर्व्यवहार करनेवालों पर जुर्माना लगाया जाता है। यद्यपि इंग्लैंड की जनसंख्या हमारे देश की अपेक्षा दसगुनी कम है, तो भी वहाँ ६३ चिड़ियाघर, ७९ पशु-चिकित्सालय और १८० पशु-कल्याण-केन्द्र हैं। वहाँ अनेक ऐसे चिड़ियाघर हैं, जो सरकार से किसी भी तरह का अनुदान पाये या उसकी अपेक्षा किये बिना ही चलाये जाते हैं। बीमार पशुओं की चिकित्सा के लिए वहाँ सचल चिकित्सालय हैं। ऐसी सूचना है कि इंग्लैंड में प्रति वर्ष लगभग २,९०,००० पशुओं की चिकित्सा की जाती है। वस्तुतः यूरोपवासियों का प्रकृति-प्रेम अनुकरणीय है। गौतम बुद्ध ने कहा था, "पृथ्वी पर जन्मा हर प्राणी सुख चाहता है। सबके प्रति दया रखो।" "दया के बिना कोई धर्म नहीं होता" – कहकर बसवन्ना ने लोगों से दयालु और सहानुभूतिशील बनने का आह्वान किया।

❖ (क्रमशः) ❖

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

रामकृष्ण के चरणों में अर्पित होवे मन मेरा

जितेन्द्र कुमार तिवारी

रामकृष्ण के चरणों में, अर्पित होवे मन मेरा।
काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह-मत्सर का मिटे अँधेरा।।

विषय-कामना कभी जीव को, देती ना सुख-शान्ति,
जीवन जाता बीत न इससे कभी तृप्ति है मिलती,
है मरीचिका यह, जो मन में पैदा करती भ्रान्ति,
गया काम से प्राणी, जिसको भी है इसने घेरा।
रामकृष्ण के चरणों में अर्पित होवे मन मेरा।।

क्रोध बुद्धि को हर लेता है, गलत राह भटकाता,
क्रोध हमें उन्मत्त बनाकर अनुचित कृत्य कराता,
जो इसके फन्दे में फँसता जीवन भर पछताता,
भले बुरे का ज्ञान मिटाकर देता कष्ट घनेरा।
रामकृष्ण के चरणों में अर्पित होवे मन मेरा।।

मद का घड़ा भरा जब होता खूब छलकता रहता,
बात किसी की नहीं मानता, केवल अपनी कहता,
अहंकार को है अपनाना अपनी मौत बुलाना,
अहं भाव ने नहीं कभी भी परहित को है हेरा।
रामकृष्ण के चरणों में अर्पित होवे मन मेरा।।

मोह बुरा है, कभी मोह से मुक्ति नहीं मिल पाती,
इसकी है आसक्ति, मनुज को जीवन भर भरमाती,
मोह दुख का कारण, इससे कभी न रखो नाता,
नश्वर है संसार, यहाँ पर सबने है मुँह फेरा।
रामकृष्ण के चरणों में अर्पित होवे मन मेरा।।

लोभ नरक का द्वार समझ लो, मन में लोभ न पालो,
निज में सन्तुष्ट रहो, पर-धन पर दृष्टि न डालो,
नहीं किसी का महल देखकर मन-ही-मन ललचाओ,
अपनी छोटी कुटिया में ही सुख से करो बसेरा।
रामकृष्ण के चरणों में अर्पित होवे मन मेरा।।

मत्सर चित का चैन मिटाता, जीवन को खा जाता,
घृणा और ईर्ष्या का चिन्तन, मन का मैल बढ़ाता,
शान्ति और सुख अगर चाहते, मत्सरता को छोड़ो,
विश्वबन्धुता को अपनाओ, क्या मेरा क्या तेरा।
रामकृष्ण के चरणों में अर्पित होवे मन मेरा।।

श्रीरामकृष्ण और युगधर्म

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(२६ अगस्त, १९६८ को, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना में रामकृष्ण संघ के तत्कालीन अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज ने जो व्याख्यान दिया था, उसका अनुलेख बँगला मासिक 'उद्बोधन' के वर्ष ७१ अंक २ में प्रकाशित हुआ था। बेलूड़ मठ के रामकृष्ण मिशन सारदापीठ से इसका हिन्दी अनुवाद 'ईश्वरोपलब्धि के पथ' नामक पुस्तिका में प्रकाशित हुआ है, जहाँ से हम इसका पुनर्मुद्रण कर रहे हैं। – सं.)

(उत्तरार्ध)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के भाव – व्यापक रूप से न हों तो भी असन्दिग्ध रूप से क्रमशः सारे जगत् में प्रसारित होते जा रहे हैं। श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के आदर्श से कितने ही देश और कितने ही लोग अनुप्राणित हो रहे हैं।

इस आदर्श के लिए सर्वत्र एक तरह का आकर्षण है। इस आदर्श के द्वारा ही हम लोगों की सारी समस्याओं का समाधान होगा तथा संसार में फिर से शान्ति लौट आएगी। धर्म के प्रति अभी जो उदासीन भाव देखा जाता है, इसका कारण है कि यथार्थ धर्म पर हमारी नजर नहीं पड़ती है। लोहे में जंग के समान धर्म के ऊपर भी मानो एक आवरण पड़ गया है। इस आवरण, इस जंग के ऊपर ही हमारी नजर पड़ती है। असली धर्म है शास्त्रोक्त सत्यों की उपलब्धि। स्वामीजी कहते हैं – "Religion is realisation. – उपलब्धि ही धर्म है।" और बाकी सब कुछ गौण है, उपलब्धि के सहायक मात्र हैं।

धर्म पर जंग लग गया है, सही बात है। किन्तु इसी कारण क्या समूचे धर्म को ही त्याग कर देना होगा? यह तो सिर में दर्द होने से सिर को काट फेंकने जैसा हुआ। धर्म के ऊपर जमे हुए अन्धविश्वासों रूपी जंग को हटाकर धर्म को ग्लानिमुक्त करके, उसे यथार्थ रूप में हम लोगों की आँखों के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए ही श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द जी आए थे। स्वामीजी पूरे संसार को इसे स्वच्छ रूप से दिखा गए हैं और कह गए हैं कि जंग लगे हुए ग्लानियुक्त धर्म को नहीं, बल्कि यथार्थ धर्म को ही ग्रहण करना होगा।

अपने जीवन में इस सत्य का प्रकाश दिखाकर हम लोगों को शिक्षा देने के लिए ही श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी का आविर्भाव हुआ था। इसी हेतु श्रीरामकृष्ण के साथ श्रीमाँ सारदा देवी भी आयी थीं। श्रीमाँ हम लोगों को क्या दे गयीं, इसे भी देखते हैं। यों तो उनके जीवन में हमें कोई विशेषता नहीं दीख पड़ती है – वे साधारण लोगों के समान ही जीवन-यापन कर गई हैं। किन्तु उनके जीवन में निःसन्देह एक माधुर्य भी था। स्थूल दृष्टि से हम उसे नहीं देख पाते। जब बँगला भाषा में "मायेर कथा" (माँ की बातें) पुस्तक का पहला और दूसरा भाग निकला, तो मैं उसके दोनों भाग पढ़ गया। एक भक्त महिला प्रतिदिन श्रीमाँ के पास आकर सारे दिन की घटनाओं को लिखकर रखती थीं। प्रथम भाग में वही बातें – माँ की दैनन्दिन जीवन की छोटी-छोटी घटनाएँ ही अधिक हैं। दूसरे भाग में माँ के उपदेश अधिक हैं। दोनों पुस्तकें पढ़ने के बाद मुझे दूसरा भाग ही अधिक पसन्द आया। प्रथम भाग में तो सभी बातें अच्छी ही हैं, किन्तु उसके अन्दर क्या विशेषता है, यह मैंने उस समय नहीं समझा। किन्तु ये दोनों पुस्तकें जब अँग्रेजी में अनूदित होकर अमेरिका गईं, तब वहाँ की सभी भक्त-महिलाओं ने प्रथम भाग को ही अधिक पसन्द किया था। उन लोगों के अपने जीवन का जो आदर्श था, उससे उन्हें शान्ति नहीं मिल रही थी। प्राच्य में भारतवर्ष की महिलाएँ किस भाव से जीवन यापन करती हैं, वे इसी की खोज कर रही थीं। माँ के जीवन में उन्हें वह मिल गया, खोजने पर शान्ति-लाभ का पथ मिल गया। इसलिए प्रथम भाग उन लोगों को ज्यादा अच्छा लगा।

हमारे देश की महिलाएँ भी भारत के प्राचीन आदर्श को भूलती जा रही हैं। हमारे देश में भी अब उस आदर्श की प्रासंगिकता अधिक हो गयी है। महिलाओं के कान्फ्रेंस में जो सब प्रस्ताव रखे जाते हैं, उन्हें देखने से ही पता चलता है कि हमारे देश की नारियाँ भारत के अपने आदर्श को भूलती जा रही हैं और पाश्चात्य नारियों का जीवनादर्श अपनाना चाहती हैं। उन लोगों की विचारधारा कैसी है, यह समझ में आती है। परन्तु जिसका ये अनुकरण करने जा रही हैं, उस पाश्चात्य जीवनादर्श के सम्बन्ध में पाश्चात्य देश की महिलाएँ ही अब असन्तुष्ट हो रही हैं। आदर्श जीवन, जो शान्ति का जीवन है, उस जीवन को दिखा गई हैं – श्रीमाँ। भारत की महिलाओं को उसी जीवनादर्श को ग्रहण करना होगा।

माँ की विशेषता उनके मातृभाव में थी। उनके पास जो भी गए हैं, वे उनके स्नेह से मुग्ध हो गए हैं। जो लोग धर्मलाभ के लिए, उनका उपदेश लेने के लिए उनके पास रहते थे, केवल वे ही नहीं, बल्कि उनके जो गाँववाले मजदूर का काम करते थे, घरेलू काम करते थे, खेत में काम करते थे, वे भी उनके उस स्नेह से मुग्ध हो जाते थे। माँ के शरीर छोड़ने के बहुत दिनों के बाद भी वे लोग कभी कभी माँ के घर आया करते थे। उन लोगों से जब पूछा जाता था – "तुम लोग अब भी इस प्रकार क्यों आते हो?" तो वे कहते, "माँ का प्रेम भूल नहीं पाते।" तब भी माँ की चर्चा उठते ही उन लोगों की आँखों से आँसू गिरने लगते। इसी से समझा जा सकता है कि

माँ के प्रति उन लोगों का अब भी कैसा आकर्षण है। माँ का प्यार और उनका वह मातृभाव ही ऐसा था कि वे उसे भूल नहीं पाते थे। ज्ञात भाव से हो या अज्ञात भाव से, यदि एक बार भी भगवान के प्रति भक्ति का आकर्षण हो जाए, तो व्यक्ति मुक्त हो जाएगा। ये सभी स्त्रियाँ भी माँ के प्रति भक्ति के कारण ही मुक्त हो जाएँगी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

हमारे इस संघ में माँ का योगदान असीम है। माँ के न होने पर श्रीरामकृष्ण के संन्यासी शिष्यगण संघबद्ध होकर एक साथ रह पाते या नहीं, इसमें सन्देह है। सम्भवत: वे बाहर जाकर सारा जीवन तपस्या में ही बिता देते। माँ के स्नेह ने ही उन लोगों को संघबद्ध रखा था। इसके अतिरिक्त माँ जब गया धाम गयी थीं उस समय बोधगया के मठ को देखकर उन्होंने ठाकुर से प्रार्थना की थी कि उनकी सन्तानों के लिए भी इसी तरह का एक मठ हो जाय, जहाँ वे एक साथ रह सकें। आज हम जो मठ और मिशन देख रहे हैं, ये सभी माँ की उस प्रार्थना के ही फलस्वरूप हैं।

और माँ ने जिस भाव से श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी को समझा था, सचमुच ही उन्हें उस प्रकार समझना अन्य किसी के लिए सम्भव नहीं है। देखने में साधारण ग्रामीण महिला के समान लगने पर भी सब कुछ समझने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। स्वामीजी ने जब पाश्चात्य देशों से लौटकर साधु लोगों के द्वारा सेवा कार्य शुरू कराया, तब उनके कई गुरुभाइयों के मन में सन्देह हो गया था कि यह श्रीरामकृष्ण का नहीं, बल्कि पाश्चात्य भाव है। यद्यपि स्वामीजी के गुरुभाइयों ने उनके भाव को स्वीकार कर लिया था, तो भी उनके मन में यह भावना रह गयी थी। मास्टर महाशय भी इस भाव को अपने मन में रखे हुए थे। मास्टर महाशय की इस बात को सुनकर उद्बोधन कार्यालय के कुछ साधु-ब्रह्मचारियों के मन में भी सन्देह हो गया था। तब उन लोगों ने जाकर माँ से पूछा। माँ ने कहा, "मास्टर को जो भी कहना हो, कहे, पर नरेन ने जो भी किया है, वह सब श्रीरामकृष्ण का ही भाव है।" उन लोगों ने पूछा, "यह जो उद्बोधन पत्रिका प्रकाशित होती है, किताबें छपती हैं – यह सब भी क्या श्रीरामकृष्ण का कार्य है?" माँ ने उत्तर दिया, "हाँ, सब ठाकुर के कार्य हैं।" यह कहकर उन्होंने एक वाक्य में स्वामीजी के मूलमंत्र '**आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च**' का समर्थन किया। माँ जब काशी गई थीं, तब वे सेवाश्रम के समीप ही स्थित एक मकान में रहती थीं। एक दिन वे सेवाश्रम देखने गयीं, लौटकर उन्होंने कहा था, "अस्पताल देख आयी। देखा कि ठाकुर जी वहाँ विराजमान हैं, सर्वत्र ही ठाकुर हैं।" सेवाश्रम देखकर लौट आने पर माँ ने सेवाश्रम के लिए दस रुपये का एक नोट भेज दिया था। वह नोट आज भी सुरक्षित है। इस प्रकार उन्होंने संघ के कई प्रश्नों की मीमांसा कर दी है।

इस संसार के लिए माँ क्या दे गयीं? वे मातृभाव दे गयी हैं। उनके जीवन को देखकर हमारे देश की महिलाएँ आदर्श जीवन-यापन करना सीखें, इसीलिए श्रीमाँ भारत के प्राचीन आदर्श को अपने जीवन में मूर्त कर गयी हैं, स्वयं वैसा जीवन बिताकर दिखा गयी हैं। आज हमारे देश की महिलाएँ पहले के समान केवल रसोईघर में आबद्ध न रहकर, बाहर के काम-काज में चारों ओर आगे बढ़ आई हैं। कोई राजनीति के क्षेत्र में, कोई डॉक्टरी में, कोई नर्सिंग में, इसी प्रकार सर्वत्र वे अपने कार्य में लगी हैं। ठीक ही है, इसका भी जरूरत है, परन्तु साथ ही यह आशंका भी है कि इन कार्यों का सम्पादन करते समय कहीं वे अपने आदर्श को न भूल जायँ। इसीलिए श्रीमाँ आदर्श जीवन दिखा गयी हैं – एक प्रकार के आदर्श के साँचे का निर्माण कर नमूना रख गयी हैं। **हमारे देश की महिलाओं का आदर्श है – मातृत्व और पवित्रता।** आज हमारे देश की महिलाओं को माँ के जीवन रूपी साँचे में अपने जीवन को ढाल देना है। भारत का अपना जो आदर्श है, उसे जोरों से पकड़ना होगा और फिर नई परिस्थिति के साथ कदम मिला कर चलना होगा। माँ जो आदर्श दिखा गई हैं, वह केवल भारत के लिए ही नहीं, सारे जगत् को इसकी आवश्यकता है। अत: माँ के आदर्श का अनुसरण कर जीवन पथ में चलने पर अपना भी और सारे जगत् का भी कल्याण होगा।

इस प्रकार श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ और स्वामीजी – ये तीनों आकर अपनी लीला के द्वारा वर्तमान जगत् को जो जो जरूरत है, वह सब दे गए हैं। आधुनिक युग के आदर्शों को वे अपने अपने जीवन में दिखा गए हैं। ये सभी हमारी आँखों के सामने प्रत्यक्ष रूप में हैं। उनके आदर्शों के आधार पर एक नये युग का प्रादुर्भाव होगा, एक नयी सभ्यता तैयार होगी। काम शुरू हो गया है, क्रमश: पूर्ण होगा। स्वामीजी ने कहा है, "श्रीरामकृष्ण का यह आदर्श सारे जगत् को ग्रहण करना होगा।"

अपनी चर्चा समाप्त करने के पूर्व हम माताओं के समक्ष एक निवेदन करेंगे। किसी सन्तान के संन्यास ग्रहण करने पर श्रीमाँ बहुत खुश होती थीं। हम लोग श्रीरामकृष्ण मठ तथा मिशन के जो कार्य करते हैं, आप उस कार्य की प्रशंसा करते हैं – हमारे कार्य में अनेक त्रुटियों के रहने पर भी करते हैं। किन्तु ये कार्य करते कौन हैं? साधु-ब्रह्मचारी ही करते हैं। उनके बिना ये कार्य हो ही नहीं सकते। आप हमसे कहते हैं – यहाँ मठ तैयार कीजिए, यहाँ स्कूल बनाइये, आदि आदि। परन्तु इन सभी कार्यों को करने के लिए उतने लोग कहाँ हैं? उतने साधु-ब्रह्मचारी कहाँ हैं? अत: आप लोगों से निवेदन है कि आपके अपने भी लड़के-लड़कियाँ यदि साधु होना चाहे, तो बाधा न दें, बल्कि उनकी इच्छा देखने पर उन्हे उत्साहित करें। श्रीमाँ जिस प्रकार अपनी सन्तानों को उत्साहित करती थीं, ठीक वैसे ही करें।

यदि बचपन से ही आप लोग अपनी सन्तानों को इस आदर्श की शिक्षा दें, तो यह आदर्श उन लोगों के मानस को प्रभावित करेगा। मदालसा अपने बच्चों के सुलाते समय उन्हें ब्रह्मविद्या की सारभूत बातें सुनाती थीं – गा-गाकर सुनाती थीं – "**त्वमसि निरंजन**।" इसके फलस्वरूप उसके बच्चे इस भाव से तैयार होते थे कि कुछ उम्र होते-न-होते वे संन्यास लेकर चले जाते थे। उनके कोई ५-६ पुत्र इसी तरह संन्यासी हो गए थे। आप अपने लड़कों को बचपन से ही जैसी शिक्षा देंगी, उनका भविष्य उसी भाव से तैयार होगा। आप लोग यदि रामकृष्ण मिशन के कार्य को पसन्द करते हैं और सोचते हैं कि इस कार्य के द्वारा भारत का कल्याण होगा, तो आपको अपनी सन्तानों को इस कार्य में सहायता करने के योग्य शिक्षा देनी होगी – जो बालक-बालिकाएँ साधु होना चाहें, उन्हें प्रोत्साहन देना होगा।

एक अन्य बात पर भी विचार करना है। हम लोगों के संघ के काम के लिए तथा भारत की सेवा के लिए भी इस त्याग की जरूरत है। आजकल देश के अनेक युवक सेना में भरती होते हैं और उनमें से बहुतों की माताएँ इसे पसन्द नहीं करती हैं। विचार करने पर मै देखता हूँ कि यह भाव स्वार्थप्रसूत है। वे सभी माताएँ सोचती हैं कि बाल-बच्चे निकट रहेंगे, नौकरी करेंगे, डॉक्टरी करेंगे, प्रोफेसरी करेंगे; उनको लड़ाई में जाने की, तोप के मुँह में जाने की जरूरत नहीं। ऐसा भाव होने पर देश की स्वाधीनता कैसे बचेगी? भारत की स्वाधीनता की रक्षा करना भी तो आवश्यक है और हमारे देश की सन्तानों को ही उसे करना होगा। देश के स्वार्थ के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ-त्याग का भाव, क्षत्रिय का भाव, अखण्ड देशात्म-बोध – ऐसी भावनाएँ यदि न रहें, तो कैसे काम चलेगा?

पिछले विश्वयुद्ध के दौरान यूरोप की एक वीरहृदया माँ ने क्या किया था, सुनिए। उसके इकलौते पुत्र को युद्ध में जाना था। माँ ने सानन्द कहा, "जाओ, देश के लिए युद्ध करो।" लड़के ने कहा, "हाँ माँ, अवश्य जाऊँगा, लेकिन प्रति सप्ताह एक पत्र भेजना।" माँ राजी हो गई। लड़का युद्ध में गया। माँ भी बहुत दिनों तक नियमित रूप से उसे पत्र भेजती रही। इसके बाद वह बीमार पड़ी और समझ गई कि बीमारी छुटेगी नहीं, देह ही छूट जाएगी। उसने सोचा – मेरे मर जाने पर लड़के को पत्र नही मिला, तो कही वह युद्ध छोड़कर घर न लौट आये। ऐसा वह बिल्कुल नहीं चाहती थी। अत: अपनी मृत्यु के पूर्व ही उसने बहुत-सी चिट्ठियाँ लिखकर रख दी और प्रत्येक पत्र में एक सप्ताह बाद की तारीख डाल दी। इसके बाद उसने पड़ोसी से कहा, "देखो, ये पत्र मैं तुम्हारे जिम्मे रख जाती हूँ। मेरे मरणोपरान्त हर सप्ताह एक एक पत्र डाक में डालते जाना।" पत्रों में लिखा था, "मैं अच्छी हूँ। मेरे लिए तुम बिल्कुल चिन्ता न करना। तुम निश्चिन्त होकर देश के लिए लड़ते रहो, आदि।" माँ तो ऐसी व्यवस्था करके मर गई। इस व्यवस्था के अनुसार पुत्र के पास नियमित रूप से चिट्ठी जाने लगी। उसे विश्वास था कि माँ ठीक ही है। बाद में जब घर लौटकर आया तब उसने सब बातें सुनी। माँ ऐसी न हो, तो बच्चे भला वीर-तेजस्वी कैसे होंगे?

हमारे देश में भी पहले इस तरह की वीर ललनाएँ थीं। आपने पुराणों में उनकी कथाएँ पढ़ी हैं। श्रीकृष्ण के साथ ही एक बार एक राजा का विरोध हो गया, युद्ध करना पड़ा। वह राजा श्रीकृष्ण के विरुद्ध युद्ध करने के लिए बहुत-से दूसरे

पुरखों की थाती

आपदो महतामेव महतामेव सम्पदः।
क्षीयते वर्धते चन्द्रः कदाचिन्नैव तारकाः।।

बड़े लोगों पर ही दुर्भाग्य तथा सौभाग्य का आगमन होता है, (छोटों पर नही); वैसे ही जैसे कि चन्द्रमा की ही ह्रास तथा वृद्धि होती है, तारों की नही।

अपराध-शतं साधु सहेतैकोपकारतः।
शतं चोपकृतीर्नीचो नाशयेदेकदृष्कृतात् ।।

– सज्जन लोग अपने प्रति किये गए एक उपकार के कारण भी सैकड़ों अपराधों को सहते हैं, (परन्तु) दुर्जन व्यक्ति सैकड़ों उपकार करनेवाले से भी, एक भूल हो जाने पर, उसका सर्वनाश कर देता है।

अवेक्षस्व यथा स्वैः स्वैः कर्मभिः व्यापृतं जगत्।
तस्मात् कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिः अकर्मणः।।

– देखो, सारा जगत् चूँकि अपने अपने कर्मो में लगा हुआ है, अतएव कर्म करना ही उचित है। अकर्मण्य व्यक्ति को कभी सिद्धि नही मिलती। (महाभारत)

अपहाय निजं कर्म कृष्ण-कृष्णेति-वादिनः।
ते हरेर्द्वेषिणः पापाः धर्मार्थं जन्म यद्धरेः ।।

– जो लोग अपने कर्तव्य छोड़कर, केवल 'कृष्ण-कृष्ण' जपा करते हैं, वे हरि के द्वेषी तथा मूढ़ है, क्योंकि प्रभु धर्म या कर्तव्य का मार्ग दिखाने को ही जन्म लेते हैं।

अहो बलवती माया मोहयत्यखिलं जगत्।
पुत्र-मित्र-कलत्रार्थं सर्वदुःखे नियोजति ।।

– अहो, यह माया अतीव बलशाली है, इसने सारे जग को मोह रखा है। पत्नी, पुत्र, मित्र आदि के माध्यम से यह दुखो में नियोजित करती है।

राजाओं के पास सहायता माँगने गया, परन्तु कोई भी उसके साथ होकर श्रीकृष्ण से युद्ध करने के लिए राजी नहीं हुआ। उन लोगों ने कहा, "क्या तुम पागल हो गए हो? श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करके क्या हम लोगों का सर्वनाश कराओगे?" तब उसने देवताओं से सहायता माँगी, अनेक देवताओं के निकट गया। किन्तु देवताओं ने भी उसी प्रकार से असहमति व्यक्त की। ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि ने भी कहा, "तुम जिसके साथ युद्ध करना चाहते हो, उसके साथ तो हम लोग युद्ध नहीं कर सकेंगे।" इस प्रकार वह स्वर्ग-मर्त्य सभी जगह घूम आया, उसे कहीं भी सहायता नहीं मिली।
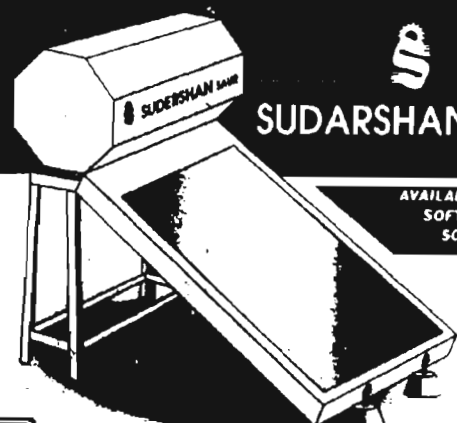
अन्त में एक दिन उसने सुभद्रा से आश्रय के लिए प्रार्थना की। सुभद्रा उस समय नदी से स्नान करके आ रही थी। उस राजा ने सुभद्रा से सारी बातें कहीं और शरणागत होकर उनसे आश्रय माँगा। वीरहृदया, क्षत्रिय रमणी सुभद्रा ने तत्काल उसे आश्रय दिया। घर लौटकर वे पाण्डवों से बोलीं, "ये शरणागत हुए हैं, आश्रय देना है।" पाण्डवों ने पूछा, "इनका विरोध किसके साथ है?" सुभद्रा ने कहा, "श्रीकृष्ण के साथ।" सुनकर पाण्डवों ने कहा, "क्या कहती हो तुम! श्रीकृष्ण हमारे सुहृद हैं। स्वयं भगवान हैं! उनके साथ हम युद्ध कैसे करेंगे? और युद्ध करने पर भी क्या जीतेंगे? इसके अतिरिक्त इस मनुष्य के लिए हम लोग यह सब करने जाएँगे ही क्यों?" सुनकर सुभद्रा ने कहा, "धिक्कार है तुम्हारे क्षत्रियत्व को! क्या यही तुम्हारा क्षात्रवीर्य है? जो शरणागत हो, उसे आश्रय देना ही क्षत्रियों का धर्म है। आश्रितों की रक्षा करने के लिए जरूरत हुई तो श्रीकृष्ण के साथ ही युद्ध क्यों नहीं करोगे? रहने दो उन्हें सुहृद। और यदि हार जाने के भय से युद्ध करना नहीं चाहते, भय से आश्रय देना नहीं चाहते, तो तुम किस बात के क्षत्रिय हो? धिक्कार है तुम लोगों को!" सुभद्रा की ये बातें सुनकर पाण्डवों ने उस राजा को आश्रय दिया।

नारियों के अन्दर इस तरह का क्षात्रभाव यदि नहीं जगेगा, तो भारत की उन्नति कैसे होगी? भारत की रक्षा कैसे होगी? स्वामीजी ने कहा है, "फिर क्षात्रवीर्य को बिना जगाए देश की कोई भी उन्नति नहीं होगी।" सेना में भरती होना हो या साधु बनना हो – दोनों का मूल आधार त्याग है। स्वार्थत्याग देश की रक्षा के लिए हो या देश की उन्नति के लिए – बचपन से ही बालक-बालिकाओं को यदि ऐसे भाव की शिक्षा दी जाय, तभी कल्याण होगा। ऐसी शिक्षा माताएँ ही दे सकेंगी। अत: आप लोगों से विशेष रूप से अनुरोध करता हूँ कि बालक-बालिकाओं को त्याग के पथ पर जाने में बाधा न दें। बल्कि इस आदर्श पर चलने के लिए प्रोत्साहित ही करें।

रोमन कैथोलिक समाज के प्रत्येक परिवार में कम-से-कम एक व्यक्ति साधु हो जाता है, चाहे वह लड़का हो या लड़की। किसी परिवार से किसी के साधु नहीं होने पर उस परिवार के सभी लोग अपने को शापग्रस्त समझते हैं, क्योंकि प्रभु ईसा मसीह ने उनके परिवार से किसी को भी अपने काम के योग्य नहीं समझा। ठाकुर जी के कार्य के लिए क्या आप ऐसा सोचते हैं? इसीलिए आशा करता हूँ कि आप का बेटा या बेटी यदि ठाकुर के त्याग के आदर्श को लेकर जीवन गठन करना चाहे, तो उसे बाधा न दें, बल्कि बचपन से ही उन्हें इस आदर्श में अनुप्राणित करने की चेष्टा करें। उसी आदर्श के अनुकूल शिक्षा दें। आप लोगों से मेरी यही प्रार्थना है। त्याग के समान परम कल्याण का पथ और किस उपाय से मिल सकता है? देश की युवा-शक्ति के प्रति स्वामीजी ने कहा है, "अपने देश के कल्याण के लिए, समग्र मानव जाति के कल्याण के लिए, आत्मत्याग ही श्रेष्ठ कर्म है।" देश सेवा, समाज सेवा, मानव जाति की सेवा का मूलमंत्र त्याग ही है। त्याग ही युगधर्म है। ठाकुर जी ने, श्रीमाँ और स्वामीजी को साथ लाकर, अपने जीवन में इसी सत्य और इसी धर्म की स्थापना की है। ❑❑❑

हितोपदेश की कथाएँ (१०)

('सुहृद्-भेद' अर्थात् 'मित्रों में फूट' नामक दूसरे अध्याय से पिछले अंकों में आपने पढ़ा – दक्षिण देश का एक वणिक् बैलगाड़ी में व्यापार के लिए निकला, पर बीच रास्ते में ही संजीवक बैल का पाँव टूट जाने से उसने उसे जंगल में ही छोड़ दिया। घायल संजीवक धीरे धीरे स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट हो उठा। उस जंगल का राजा पिंगलक नामक सिह बैल की दहाड़ सुनकर भयभीत व चिन्तित हो गया। उसके सियार-मंत्री के पुत्रों – करटक और दमनक ने संजीवक बैल को लाकर राजा के साथ उसकी मित्रता करा दी। पर धीरे धीरे संजीवक राजा पिंगलक का विश्वासपात्र तथा कोषाध्यक्ष बन गया। इससे करटक तथा दमनक के मन में बड़ी ईर्ष्या व पीड़ा हुई। दमनक ने पुन: सिंह के पास जाकर उसे संजीवक के खिलाफ भड़काते हुए उनमें फूट डालकर उसकी हत्या करवा दी। इसके बाद आरम्भ होता है 'विग्रह' अर्थात् युद्ध नामक तीसरा भाग। – सं.)

विग्रह

कथा फिर शुरू होने पर राजकुमारों ने कहा – "हम सब राजकुमार हैं। अत: हमारी इच्छा 'विग्रह' (युद्ध) सुनने की है।' विष्णु शर्मा बोले, "यदि आप लोगों की यही रुचि है, तो मैं कहता हूँ, आप 'विग्रह' सुनें। इसका पहला श्लोक है –

'समान बलवाले हंसों के साथ मोरों का युद्ध हुआ था, जिसमें कौओं ने हंसों के हृदय में विश्वास उत्पन्न करके शत्रुओं (हंसों) के घर में टिककर उन्हें बुरी तरह ठगा।' "

राजपुत्रों ने पूछा – "यह कैसे?"

विष्णु शर्मा कहने लगे – "कर्पूर द्वीप में पद्मकेलि नाम का एक सरोवर था। वहाँ हिरण्यगर्भ नाम का राजहंस रहा करता था, जिसे वहाँ के सभी जलचर पक्षियों ने मिलकर राजा चुन लिया था। क्योंकि – 'यदि राजा योग्य न हो तो उसकी प्रजा समुद्र में बिना कर्णधार की नौका के समान डगमगाती रहती है।' और – 'राजा प्रजा की रक्षा करता है और प्रजा राजा को समृद्ध करती जाती है। किसी वस्तु की वृद्धि की अपेक्षा उसकी रक्षा अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि रक्षण के अभाव में विद्यमान चीज भी नष्ट हो जाती है।'

"एक बार वह राजहंस एक बड़े विशाल कमल की शय्या पर अपने परिवारवालों के साथ आनन्दपूर्वक बैठा था। थोड़ी देर बाद किसी अन्य देश से लौटा दीर्घमुख नाम का बगुला आया। वह राजा को प्रणाम करके वहीं बैठ गया। राजा ने पूछा – 'दीर्घमुख ! विदेश से आ रहे हो? वहाँ का समाचार कहो।' वह बोला – 'महाराज ! बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। उसी को बताने के लिए तो मैं शीघ्रतापूर्वक आपके पास आया हूँ। सुनिए, जम्बु द्वीप में विंध्य नाम का पर्वत है। वहाँ पक्षियों का राजा चित्रवर्ण नाम का मोर रहता है। वहाँ दग्धारण्य में मुझे घूमते पाकर उसके अनुचरों ने पूछा – 'तुम कौन हो? कहाँ से आए हो?' मैंने कहा – 'कर्पूर द्वीप के चक्रवर्ती राजा हिरण्यगर्भ का मैं सेवक हूँ और कुतूहलवश अन्य देशों का भ्रमण करने आया हूँ।' यह सुनकर उन पक्षियों ने मुझसे पूछा – 'आपके और हमारे देशों में से कौन-सा देश और कौन-सा राजा श्रेष्ठ है?' मैंने कहा – 'कर्पूर द्वीप तो मानो स्वर्ग ही है और हमारे सम्राट् राजहंस मानो दूसरे इन्द्र हैं। तुम लोग इस मरुभूमि में पड़े हुए क्या कर रहे हो? चल कर, हमारे देश में रहो।' मेरी बात सुनकर वे लोग बड़े क्रुद्ध हो गए। कहा भी है –

पय:पानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम् ।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।।

– 'जैसे साँप को दूध पिलाने से उसके विष में वृद्धि ही होती है, वैसे ही मूर्खों को उपदेश देने से उनकी नाराजगी शान्त न होकर, बल्कि बढ़ती ही जाती है।' और भी –

विद्वानेवोपदेष्टव्यो नाविद्वांस्तु कदाचन ।
वानरानुपदिश्याऽथ स्थानभ्रष्टा ययुः खगाः ।।

– 'उपदेश समझदार व्यक्ति को ही देना चाहिए, मूर्ख को तो कभी नहीं, क्योंकि पक्षियों ने वानरों को उपदेश दिया और इसके फलस्वरूप वे अपने घोसलों से भी हाथ धो बैठे।'

राजा ने पूछा – 'यह कैसे?' दीर्घमुख बगुला बोला –

कथा १

"नर्मदा नदी के तट पर पहाड़ की तलहटी में एक विशाल सेमल का वृक्ष था। बहुत-से पक्षी उसकी शाखाओं में घोंसले बनाकर बड़े आनन्दपूर्वक रहा करते थे। वर्षा ऋतु में एक दिन आकाश में चारों ओर से काले बादल घिर आए और मुसलाधार वर्षा होने लगी। थोड़ी देर बाद पेड़ के नीचे बैठे बन्दरों को ठण्ड से काँपते हुए देखकर पक्षियों को दया आ गई। वे लोग बोले – 'हे बन्दर भाइयो, सुनो – हम लोगों ने तो केवल अपनी चोंच की सहायता से ही तिनके ला-लाकर अपने रहने के लिए घोंसले बना लिए हैं। फिर तुम लोग हाथ-पैर वाले होकर भी क्यों कष्ट झेल रहे हो?'

यह सुनकर बन्दरों को क्रोध आ गया। उन लोगों ने मन-ही-मन सोचा – 'अहो, वायुरहित घोसलों के भीतर बैठे हुए ये पक्षी हमारी निन्दा कर रहे हैं। ठीक है, वर्षा रुक जाने दो।' फिर वर्षा बन्द हो जाने पर वे सभी बन्दर वृक्ष पर चढ़ गए और पक्षियों के घोंसलों को तोड़ डाला तथा उनके अण्डों को नीचे गिरा दिया। इसीलिए कहता हूँ – 'समझदारों को ही उपदेश देना चाहिए, आदि'।" राजा ने पूछा – "इसके बाद उसने क्या किया?" बगुला बोला – "इसके बाद पक्षियों ने क्रोधपूर्वक कहा – 'उस राजहंस को किसने राजा बनाया?' मैं भी क्रुद्ध होकर बोला – 'तुम्हारे मोर को किसने राजा बनाया?'

यह सुनकर वे सब मुझे मारने को तैयार हो गए। तब मैंने भी अपनी शक्ति प्रकट की। क्योंकि – 'अन्य समय तो स्त्रियों की लज्जा के समान पुरुष की क्षमा सुन्दर लगती है, पर अपमान के समय पराक्रम दिखाने में ही पुरुषों की शोभा है।' ''

राजा ने हँसकर कहा –

आत्मनश्च परेषां च यः समीक्ष्य बलाबलम् ।
अन्तरं नैव जानाति स तिरस्क्रियतेऽरिभिः ।।

– 'अपने पक्ष तथा दूसरे (शत्रु) पक्ष के बल तथा दुर्बलता को जो नहीं जानता, उसे शत्रुओं द्वारा अपमानित होना पड़ता है।

और भी – मूर्ख गधा बाघ की खाल ओढ़े हुए बहुत काल तक प्रतिदिन खेत में चरता रहा, परन्तु अपनी वाणी के दोष से वह मार डाला गया।''

बगुले ने पूछा – ''यह कैसे?'' राजा कहने लगा –

कथा २

हस्तिनापुर में विलास नाम का एक गरीब धोबी निवास करता था। उसका गधा अधिक बोझ ढोते रहने के कारण बड़ा दुर्बल तथा मरणासन्न-जैसा हो गया। तब धोबी ने उसे बाघ की खाल से ढँककर जंगल के पासवाले धान के खेत में चरने को छोड़ दिया। खेत के मालिक उसे दूर से देखकर बाघ समझकर भाग खड़े होते थे।

एक दिन खेत का रखवाला एक मटमैला कम्बल ओढ़कर और धनुष को ठीक करके खेत के किनारे छिपकर बैठ गया। मनमाना खेत चरकर हृष्ट-पुष्ट हुए अंगवाले गधे ने उसे दूर से देखकर कोई दूसरा गधा समझकर जोरों से रेंकता हुआ उसकी ओर दौड़ा। इससे खेत के रक्षक ने समझ लिया कि यह गधा है और बड़ी आसानी से उसे मार डाला। इसी से मैं कहता हूँ – 'बहुत काल तक प्रतिदिन खेत में चरता हुआ' आदि।''

दीर्घमुख कहने लगा – ''इसके बाद उन पक्षियों ने कहा – 'अरे पापी और दुष्ट बगुले! हमारे देश में ही रहकर तू हमारे राजा की निन्दा करता है? अब हम तुझे क्षमा नहीं करेंगे।' तदुपरान्त वे मुझ पर चंचु-प्रहार करते हुए बोले – 'रे मूर्ख! तेरा राजा हंस तो बड़े कोमल स्वभाव का है। केवल कोमलता से राजा के अधिकार की रक्षा नहीं हो पाती, क्योंकि कोमल स्वभाव का व्यक्ति अपने हाथ में रखे हुए धन की भी रक्षा नहीं कर सकता। तब यह पृथ्वी का शासन कैसे करेगा और उसका राज भी कैसा? लेकिन तुम तो कूपमण्डूक हो। इसीलिए उस राजा के आश्रय में रहने का उपदेश दे रहे हो। सुनो –

सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः ।
यदि दैवात् फलं नास्ति छाया केन निवार्यते ।।

– 'बुद्धिमान को चाहिए कि वह फल और छाया से भरपूर किसी महान् वृक्ष की ही शरण ले, क्योंकि भाग्यवश फल न मिले, तो भी छाया को तो कोई छीन नहीं सकता।' और –

हीन सेवा न कर्तव्या कर्तव्यो महदाश्रयः ।
पयोऽपि शौण्डिकीहस्ते वारुणीत्यभिधीयते ।।

– 'नीच व्यक्ति के साथ नहीं रहना चाहिए। सदा बड़ों का ही आश्रय लेना चाहिए। क्योंकि कलवारिन के हाथ में यदि दूध भी रहे, तो लोग उसे मदिरा ही समझेंगे। अर्थात् दुर्बल राजा के साथ रहने से तुम भी दुर्बल ही माने जाओगे।' और –

महानप्यल्पतां याति निर्गुणे गुणविस्तरः ।
आधाराऽऽधेयभावेन गजेन्द्र इव दर्पणे ।।

– 'बड़ा गुणी व्यक्ति भी यदि गुणहीन का संग करे, तो उसके प्रभाव से तुच्छता को प्राप्त होगा। जैसा आधार होगा, वैसा ही आधेय भी हो जाएगा, जैसे विशाल हाथी भी दर्पण के प्रभाव से छोटा-सा दिखाई देने लगता है।' परन्तु 'सिंह की कृपा से बकरी भी जंगल में निर्भय होकर चरती है और विभीषण ने भी राम का आश्रय लेकर ही लंका में राज्य प्राप्त किया था।'

विशेषत: 'कभी कभी तो अत्यन्त बलवान राजा के नाम से ही काम बन जाता है, जैसे कि चन्द्रमा का नाम लेकर ही खरगोश सुख के अधिकारी हुए थे।' ''

मैंने पूछा – ''यह कैसे?'' पक्षियों ने कहा –

कथा ३

''एक बार बरसात में भी पानी नहीं बरसा। तब प्यास से आकुल हाथियों ने अपने राजा से कहा – 'स्वामी! हमारे जीने का क्या उपाय होगा? अब तो छोटे छोटे जीवों के नहाने को भी जल नहीं रह गया है। और हम तो स्नान-बिना मानो मरे जा रहे हैं। समझ में नहीं आता कि क्या करें? कहाँ जायँ?'

हाथियों का राजा उन्हें अपने साथ थोड़ी दूर ले गया और उन्हें एक निर्मल सरोवर दिखा दिया। अब हाथियों के आने-जाने से थोड़े ही दिनों में सरोवर के किनारे रहनेवाले बहुत-से छोटे छोटे खरगोश दबकर मर गए। तब शिलीमुख नामक खरगोश बोला – 'प्यास से आकुल हाथियों का झुण्ड तो यहाँ प्रतिदिन आएगा। इससे हमारा वंश ही नष्ट हो जाएगा।' इस पर विजय नामक एक वृद्ध खरगोश ने कहा – 'तुम लोग डरो मत। मैं इस विपत्ति को दूर करने का उपाय करूँगा।' प्रतिज्ञा करके वह चला गया। जाते जाते उसने सोचा – 'हाथियों के राजा के पास जाकर मुझे क्या कहना चाहिए? क्योंकि –

स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजंगमः ।
पालयन्नपि भूपालः प्रहसन्नपि दुर्जनः ।।

– 'हाथी केवल छूकर ही मार डालता है और साँप केवल सूँघ करके समाप्त कर देता है। राजा पालन करते हुए ही ले डूबता है और दुष्ट हँसते हँसते ही प्राणनाश कर देता है।'

अतः मैं पर्वत की चोटी पर चढ़कर वहीं से गजराज के

साथ बातें करूँगा।' उसके ऐसा ही करने पर हाथियों के राजा ने पूछा – 'तुम कौन हो? कहाँ से आए हो?' उसने उत्तर दिया – 'मैं खरगोश हूँ। भगवान चन्द्रदेव ने मुझे आपके पास भेजा है। हाथी बोला – 'काम बताओ।' खरहे ने कहा – 'सिर पर हथियार उठा हो, तो भी दूत झूठ नहीं बोलता, क्योंकि वह अवध्य होता है, इसलिए वह सत्य ही कहता है।'

'अत: मैं उनकी आज्ञा बताता हूँ। सुनो, चन्द्रदेव का कहना है कि "तुमने इस चन्द्र-सरोवर की रखवाली करनेवाले खरगोशों को निकालकर बड़ा ही अनुचित किया है। मैं उनकी बहुत दिनों से रक्षा करता आ रहा हूँ। इसी से मेरा 'शशाङ्क' नाम विख्यात है।" उसके ऐसा कहने पर गजराज ने भय से काँपते हुए कहा – 'क्षमा कीजिए, अज्ञानवश ही ऐसा हो गया है। अब हम ऐसा नहीं करेंगे।' दूत बोला – 'ठीक है, तो सरोवर में क्रोध से काँपते हुए भगवान चन्द्रदेव को प्रणाम करके उनकी अनुमति ले लो और आदरपूर्वक चले जाओ।'

रात को वह गजराज को साथ लिए सरोवर पर गया और जल की तरंगों पर हिलते हुए चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दिखाकर प्रणाम कराया। और बोला – 'प्रभो, इन्होंने अनजाने में यह अपराध किया है। इसलिए क्षमा कर दीजिए। अब ये ऐसा नहीं करेंगे।' ऐसा कहकर उसे वहाँ से चलता कर दिया। इसी कारण हम कहते हैं कि – 'कभी कभी तो अत्यन्त बलमान राजा के नाम से ही काम बन जाता है, आदि।'

मैंने कहा – 'हमारे प्रभु राजहंस का बड़ा प्रताप है। उनमें प्रबल सामर्थ्य है। वे तीनों लोक का राज्य सँभाल सकते हैं। तब इस राज्य की बात ही क्या है!' तब वे पक्षिगण – 'दुष्ट, तू हमारे राज्य में क्यों घूमता है?' ऐसा कहते हुए मुझे पकड़ कर राजा चित्रवर्ण (मोर) के पास ले गए। मुझे सामने करके वे राजा से बोले – 'देव, यह दुष्ट बगुला हमारे देश में रहकर श्रीमान् की निन्दा करता है।' राजा ने पूछा – 'यह कौन है? कहाँ से आया है?' पक्षी बोले – 'हिरण्यगर्भ नामक राजहंस का यह सेवक कर्पूर द्वीप से आया है।' इसके बाद राजा के मंत्री गिद्ध ने मुझसे पूछा – 'तुम्हारे यहाँ प्रधानमंत्री कौन है?' मैंने कहा – 'सब शास्त्रों में कुशल सर्वज्ञ नामक चकवा है।' गिद्ध बोला – 'ठीक है, वह तो स्वदेश का है। क्योंकि –

स्वदेशजं कुलाचार-विशुद्धमुपधाशुचिम्।
मन्त्रज्ञमव्यसनिनं व्यभिचारविवर्जितम्॥
अधीतव्यवहारेऽर्थे मौलं ख्यातं विपश्चितम्।
अर्थस्योत्पादकं चैव विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः॥

– 'राजा को, अपने देश में जन्मे, कुल के आचार से परिचित, विशुद्ध, धर्म की दृष्टि से पवित्र, मंत्र के ज्ञाता, व्यसनरहित, सदाचारी, व्यवहारकुशल और प्रशंसित कुल के विद्वान् तथा धनोपार्जन में निपुण व्यक्ति को अपना मंत्री बनाना चाहिए।'

इसी बीच तोता बोल उठा 'श्रीमान्! कर्पूर द्वीप जैसे छोटे छोटे द्वीप तो जम्बु द्वीप के अन्तर्गत ही हैं। वहाँ भी तो श्रीमान् की ही प्रभुता है।'

इस पर मोर राजा ने कहा, 'ठीक कहते हो। क्योंकि –

राजा मत्तः शिशुश्चैव प्रमदा धनगर्वितः।
अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति किं पुनर्लभ्यतेऽपि यत्॥

– 'राजा, पागल, बालक, मतवाली स्त्री और धनाभिमानी लोग तो अप्राप्य वस्तु को भी पाना चाहते हैं। फिर मिल सकनेवाली अपनी ही चीज की तो बात ही क्या!'

तब मैं बोला – 'यदि केवल कहने से ही राज्य मिलता हो, तो इस जम्बु द्वीप पर भी मेरे राजा हिरण्यगर्भ का प्रभुत्व है।'

तोते ने कहा – 'तो इसका निर्णय कैसे हो?'

मैं बोला – 'इसका निपटारा युद्ध से ही हो सकता है।'

राजा ने कहा – 'तो जाकर अपने स्वामी को तैयार करो।'

मैंने कहा – 'आप मेरे साथ अपना दूत भी भेजिए।'

राजा ने अपने दरबारियों से पूछा – 'दूत बनकर इसके साथ कौन जाएगा? क्योंकि दूत इस प्रकार का होना चाहिए –

भक्तो गुणी शुचिर्दक्षः प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी।
ब्राह्मणः परमर्मज्ञो दूतः स्यात्प्रतिभानवान्॥

– 'विश्वासी, गुणी, पवित्र, निपुण, वाक्पटु, व्यसन-रहित, क्षमाशील, दूसरों का मर्म जाननेवाले और प्रतिभासम्पन्न ब्राह्मण को ही दूत बनाना चाहिए।'

गिद्ध बोला – 'दूत तो अनेक हो सकते हैं, पर ब्राह्मण को ही दूत बनाना चाहिए। क्योंकि – ब्राह्मण दूत स्वामी को प्रसन्न करनेवाला काम करता है, किन्तु धन नहीं चाहता। जैसे कि शिवजी का संग होने पर भी विष की कालिमा नहीं दूर हुई। (अर्थात् ब्राह्मण धन के बीच रहकर भी निर्लोभी रहेगा।)'

राजा ने कहा – 'तो फिर तोता ही जाय। तोते! इसके साथ जाओ और इसके मालिक को मेरी इच्छा बता दो।' तोते ने कहा – 'श्रीमान् की जो आज्ञा। किन्तु यह बगुला बड़ा दुष्ट है। मैं इसके साथ नहीं जाऊँगा। कहा भी है –

खलः करोति दुर्वृत्तं नूनं फलति साधुषु।
दशाननोऽहरत्सीतां बन्धनं स्यान्महोदधेः॥

– 'दुष्ट दुष्टता करता है आर उसका फल अच्छे लोगों को भोगना पड़ता है। सीता का हरण तो किया रावण ने और बँधना पड़ा समुद्र को।' और –

न स्थातव्यं न गन्तव्य दुर्जनेन समं क्वचित्।
काकसङ्गाद्धतो हंसस्तिष्ठन् गच्छंश्च वर्त्तकः॥

– 'दुष्ट के साथ न बैठें, न कहीं जाय, क्योंकि कौए के साथ रहने से हंस एवं साथ बैठने व चलने से बतख मारा गया।'

राजा ने पूछा – 'यह कैसे?' तोता बोला – ❖ **(क्रमशः)** ❖

रामचरितमानस : भारतीय धर्म और दर्शन का कोश

स्वामी आत्मानन्द

भारतीय परम्परा में धर्म और दर्शन का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। जहाँ दर्शन किसी आध्यात्मिक सत्य का सैद्धान्तिक प्रतिपादन करता है, वहाँ धर्म उस सत्य को प्रत्यक्ष करने का व्यावहारिक साधन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार भारत में धर्म और दर्शन की धाराएँ एक दूसरे से सर्वथा विलग और स्वतत्र न होकर परस्पर पूरक रही हैं। राम-चरित-मानस में भारतीय धर्म और दर्शन के इतने पक्षों पर विचार हुआ है कि वस्तुतः वह धर्म और दर्शन का एक सुबृहत् कोश बन गया है। मानस में भले ही विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों का नामकरण न किया गया हो, पर हम जिन विशिष्ट नामों से भिन्न-भिन्न दार्शनिक धाराओं से परिचित हैं, वे सभी मानस में यथास्थान वर्णित हुई हैं। चाहे वेदान्त का अद्वैतवाद हो या विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद हो या केवलाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतावाद हो या द्वैतवाद – ये सभी विभिन्न प्रसंगों में विवेचित हुए हैं। वैसे ही सांख्य, वैशेषिक आदि दार्शनिक प्रणालियाँ भी मानस से अछूती नहीं रही हैं। मानस में जिस धर्म का विवेचन उपस्थित किया गया है, वह केवल सैद्धान्तिक आदर्श को ही नहीं प्रस्तुत करता, प्रत्युत व्यावहारिक अभिव्यजना ही उसका लक्ष्य है। और यह लक्ष्य श्रीराम-पंचायतन को केन्द्र बनाकर अनेक चरित्रों के माध्यम से साकार किया गया है। श्रीराम यदि समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों और मानवीय गुणों के मूर्तिमान प्रतीक हैं, तो श्रीभरत धर्म के जीते-जागते रूप हैं। श्रीराम यदि '**धरम धुरीन धीर नय नागर, सत्य सनेह सील सुख-सागर**' हैं, तो श्रीभरत मुनि वशिष्ठ के अनुसार 'धर्मसार' हैं।

रामचरित-मानस के एवंविध धर्म और दर्शन का कोश होने का कारण गोस्वामी तुलसीदासजी से ही पूछिए। वे कहेंगे – "**नाना-पुराण-निगमागम-सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि** – अनेक पुराण, वेद और आगम शास्त्रों से सम्मत तथ्य इस 'मानस' के उपादान हैं। साथ ही, रामायण में वर्णित तथा अन्यत्र उपलब्ध जो भी श्रीराम-जीवन-गाथा है, वह समस्त इस 'मानस' का आधार है। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त श्रीराम-चरित के उपादानों का अपनी अनुभूति की रसवन्ती धारा में परिपाक कर गोस्वामीजी ने जिस कलि-मल-हरनी का गायन किया है, उसमें मानव-मन की सारी विधाएँ आप-से-आप आकर समायोजित हो गयी हैं। यही मानस के कोशत्व का रहस्य है।

दार्शनिकों को झगड़ा करने दीजिए कि 'ईश्वर निर्गुण हैं या सगुण हैं, पर जो अनुभूति की कसौटी पर दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमासा करने का आदी है, उसके लिए ईश्वर निर्गुण भी हैं और सगुण भी। वह दोनों में कोई भेद, कोई विरोध नहीं देखता। तभी तो गोस्वामीजी कहते हैं –

> **सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।**
> **गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ॥**
> **अगुन अरूप अलख अज जोई।**
> **भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥**
> **जो गुन रहित सगुन सोई कैसें।**
> **जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें ॥**

गोस्वामीजी से पूछिए कि जगत् सत्य है या असत्य?

उत्तर मिलेगा – असत्य।

– असत्य है, तो दीख कैसे पड़ता है?

– इसलिए कि वह सत्य का आधार लेकर खड़ा है।

– यदि सत्य का आधार उसके पीछे है, तो फिर वह असत्य कैसे हुआ?

– क्यों, तुम्हें क्या कभी रस्सी में साँप का भ्रम नहीं हुआ?

– हुआ तो।

– सीपी में चाँदी का भ्रम नहीं हुआ?

– हुआ तो।

– सूर्य की किरणों में पानी का भ्रम नहीं हुआ?

– हुआ तो।

– तो क्या साँप, चाँदी या पानी वस्तुतः वहाँ था?

– नहीं।

– जब नहीं था, तो दिखा क्यों?

– इसलिए कि उसके पीछे रस्सी, सीपी या रवि-किरणों का आधार था।

– तो बस, इसी प्रकार समझो कि इस असत्य जगत् का आधार सत्य ईश्वर है, इसीलिए वह भ्रम के कारण सत्य-सा दिखता है और दुःख देता रहता है।

> **जासु सत्यता तें जड़ माया।**
> **भास सत्य इव मोह सहाया ॥**
> **रजत सीप महुँ भास जिमि,**

जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ,
भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥
यहि विधि जग हरि आश्रित रहई।
जदपि असत्य देत दुख अहई ॥

– अच्छा, इस दुःख को दूर करने का क्या कोई उपाय नहीं है?

– है।

– क्या है?

– उस दुःख के कारण को नष्ट कर डालो।

– वह कारण क्या है?

– भ्रम।

– यह भ्रम क्या है?

– माया।

– यह माया क्या है?

मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया ॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई ॥

इस माया के वशीभूत होकर ही जीव, ईश्वर का अंश होता हुआ भी, तोते और वानर की भाँति अपने आप ही बँध गया है। इस प्रकार जड़ और चेतन में गाँठ पड़ गयी है। यद्यपि यह गाँठ मिथ्या है, तथापि उसके छूटने में कठिनता है।

– यह गाँठ छूटे कैसे?

रामचरित-मानस इस ग्रन्थि-विमोचन की साधना-प्रणाली का विस्तार से वर्णन करते हुए कहता है –

हृदय-रूपी घर में सात्त्विक श्रद्धा-रूपी गौ लाकर बसा लो। उस गौ के श्रुतियों में कहे गये असख्यों जप, तप, व्रत, यम, नियम आदि शुभ धर्म और आचार के हरे तृण चराओ। आस्तिकता-रूपी बछड़ा उसके सामने धरकर उसे पन्हाओ। दूहते समय गौ के पैरों में निवृत्ति की नोई बाँधो। दूहने के लिए विश्वास-रूपी बर्तन और निर्मल मन-रूपी अहीर ले आओ। ऐसा जो परम धर्ममय दूध प्राप्त हो, उसे निष्कामता की आग पर भलीभाँति औटाओ। फिर क्षमा और सन्तोष की हवा से उसे ठण्डा करो। धीरज और मनोनिग्रह का जामन डालकर उसे जमाओ। मुदिता-रूपी कमोरी में, तत्त्व-विचार की मथानी लेकर, इन्द्रिय-दमन-रूपी खम्भे के सहारे, सत्य और सुन्दर वाणी-रूप रस्सी लगाकर उसे मथो। मथकर उसमें से निर्मल और पवित्र वैराग्य-रूपी मक्खन निकाल लो।

तब योग-रूपी अग्नि प्रकट करके उसमें समस्त शुभाशुभ कर्मों का ईंधन लगा दो। जब वैराग्य-रूपी मक्खन का ममता-रूपी मैल जल जाय, तब बचे हुए ज्ञान-रूपी घी को निश्चयात्मिका बुद्धि से ठण्डा कर लो। तब विज्ञान-रूपिणी बुद्धि के द्वारा उस ज्ञान-रूपी निर्मल घी को चित्त-रूपी दिये में भर लो और समत्व-भाव की दीवट बनाकर उस पर उसे दृढ़तापूर्वक रख दो। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति – इन तीनों अवस्थाओं तथा सत्त्व, रज और तम – इन तीनों गुणों का कपास लेकर तुरीयावस्था-रूपी रूई को निकाल लो और फिर उसे सँवारकर उसकी सुन्दर कड़ी बत्ती बनाओ। फिर इस विज्ञानमय दीपक को जला लो, जिसके समीप जाते ही तेज आँच में मद आदि सारे पतिंगे जल जाते हैं। '**सोऽहस्मस्मि**' की अखण्ड वृत्ति ही इस ज्ञान-दीपक की प्रचण्ड लौ है।

इस प्रकार जब आत्मानुभव के सुख का सुन्दर प्रकाश फैलता है, तब जन्म-मृत्यु-रूप ससार के मूल भेद-रूपी भ्रम का नाश हो जाता है और महान् बलवती अविद्या के मोह आदि परिवार का अपार अन्धकार मिट जाता है। तब वही विज्ञान-रूपिणी बुद्धि आत्मानुभव रूप प्रकाश पाकर हृदय-रूपी घर में बैठकर उस जड़-चेतन की गाँठ को खोलती है।

पर साधना का क्रम इतने से ही पूरा नहीं हो जाता। जब माया देखती है कि जीव अपनी इस चिज्जड़ ग्रन्थि को खोलने जा रहा है, तो वह अनेकों विघ्न खड़े करती है। वह बहुत-सी ऋद्धि-सिद्धियों को भेजती है। ये सिद्धियाँ आकर बुद्धि को लोभ दिखाती हैं और कल-बल-छल से समीप जाकर आँचल की वायु से उस ज्ञान-रूपी दीपक को बुझा देती है। यदि बुद्धि बहुत ही सयानी हुई, तो वह उन ऋद्धि-सिद्धियों को अहितकर समझकर उनकी ओर ताकती नहीं। इस प्रकार यदि माया के विघ्नों से बुद्धि बच गयी, तो फिर देवता नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित करते हैं। इन्द्रियों के द्वार हृदय-रूपी घर के अनेकों झरोखे हैं। प्रत्येक झरोखे पर देवता अड्डा जमाकर बैठे हुए हैं। ज्योंही वे विषय-रूपी हवा को आते देखते हैं, त्योंही हठपूर्वक किवाड़ खोल देते हैं। ज्योंही वह तेज हवा हृदय-रूपी घर में जाती है, त्योंही वह विज्ञान-रूपी दीपक बुझ जाता है। गाँठ भी नहीं छूटी और वह प्रकाश मिट गया। सारा किया-कराया चौपट हो गया। ज्ञान कहने में कठिन, समझने में कठिन, और साधने में भी कठिन है। यदि सयोगवश कदाचित् यह ज्ञान हो भी जाय, तो उसे बचाये रखने में अनेकों विघ्न हैं। ज्ञान का मार्ग दुधारी तलवार की धार के समान है। इस मार्ग से गिरते देर नहीं लगती। हरि की माया अत्यन्त दुस्तर है, वह सहज ही में तरी नहीं जा सकती।

इस माया से तरने का गोस्वामीजी एक अचूक और सरल उपाय बतलाते हैं। वह है श्रीरामजी की भक्ति। जो कैवल्य-रूप परम पद अत्यन्त दुर्लभ है, वही दुर्लभ मुक्ति श्रीरामजी को भजने से, बिना इच्छा किये भी, जबरदस्ती आ जाती है। इसका कारण यह है कि माया और भक्ति ये दोनों ही स्त्री-वर्ग की हैं और यह सर्वविदित है कि **'मोह न नारि नारि के रूपा'**। ज्ञान पुरुष वर्ग का होने के कारण माया की आसक्ति में बँध जाता है। वस्तुतः श्रीरामजी की भक्ति सुन्दर चिन्तामणि है। यह जिसके हृदय के अन्दर बसती है, वह दिन-रात अपने आप ही परम प्रकाश-रूप रहता है। उसको दीपक, घी और बाती कुछ नहीं चाहिए। फिर मोह-रूपी दरिद्रता समीप नहीं आती, क्योंकि मणि स्वयं धन-रूप है, और तीसरे, लोभ-रूपी हवा उस मणिमय दीप को बुझा नहीं सकती, क्योंकि मणि स्वयं प्रकाश-रूप है। उसके प्रकाश से अविद्या का प्रबल अन्धकार मिट जाता है। मद आदि पतिंगों का सारा समूह हार जाता है। जिसके हृदय में भक्ति बसती है, उसके पास काम, क्रोध और लोभ आदि दुष्ट भी नहीं जाते। उसके लिये विष अमृत के समान और शत्रु मित्र हो जाता है। उस मणि के बिना कोई सुख नहीं पाता। बड़े-बड़े मानस-रोग, जिनके वश होकर सब जीव दुखी हो रहे हैं , उसको नहीं व्यापते। श्रीराम-भक्ति-रूपी मणि जिसके हृदय में बसती है, उसे स्वप्न में भी लेश-मात्र दुख नहीं होता। यद्यपि वह मणि जगत् में प्रकट है, पर बिना श्रीरामजी की कृपा के उसे कोई पा नहीं सकता।

उसे पाने का उपाय भी सुगम ही है, पर अभागे मनुष्य उन उपायों को ठुकरा देते हैं। वेद-पुराण पवित्र पर्वत हैं। श्रीरामजी की नाना प्रकार की कथाएँ उन पर्वतों में सुन्दर खानें हैं। सन्त पुरुष इन खानों के रहस्य को जाननेवाले मर्मी हैं और सुन्दर बुद्धि कुदाल है। ज्ञान और वैराग्य ये दो उनके नेत्र हैं। जो प्राणी उसे प्रेम के साथ खोजता है, वह सब सुखों की खान इस भक्ति-रूपी मणि को पा जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास का आदर्श वह नहीं जो केवल शारीरिक बल की पराकाष्ठा प्राप्त किये हुए हो, और वह भी नहीं जो मात्र मानसिक या आध्यात्मिक बल के शिखर पर पहुँचा हुआ हो पर शरीर-बल से हीन हो। यदि ऐसा होता तो रावण को हरानेवाले बालि और सहस्रबाहु उनके आदर्श होते, या फिर मुनि वसिष्ठ को उन्होंने अपने महाकाव्य के नायक के रूप में स्वीकार किया होता। उनका आदर्श तो वह है, जो शारीरिक बल के साथ ही साथ मानसिक एवं आध्यात्मिक बल की भी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ हो। उनका आदर्श केवल बाहर के दीखनेवाले बली-रावण का ही संहार नहीं करता, वरन् अन्तःकरण के अन्दर जो दुर्धर्ष रावण पैठा हुआ है, उसको भी वह विनष्ट कर देता है। जहाँ शारीरिक बल से बाहरी शत्रुओं पर विजय होती है, वहीं आध्यात्मिक बल भीतर के शत्रुओं को पछाड़ता है। जहाँ इन दोनों का समन्वय है, वही गोस्वामीजी के आदर्श पुरुष हैं। तभी तो वे जब राम-रावण युद्ध के समय विभीषण श्रीराम को रथहीन देखकर शोक करते हैं, तो श्रीराम उन्हें सांत्वना प्रदान करते हुए कहते हैं – "सखे ! सुनो, जिससे जय होती है, वह रथ दूसरा ही है। शौर्य और धैर्य उस रथ के पहिये हैं। सत्य और शील उसकी मजबूत ध्वजा और पताका है। बल, विवेक, इन्द्रिय-निग्रह और परोपकार – ये चार उसके घोड़े हैं, जो क्षमा, दया और समता रूपी डोरी से रथ में जोड़े हुए हैं। ईश्वर का भजन ही उस रथ को चलानेवाला चतुर सारथी है। वैराग्य ढाल है और सन्तोष तलवार है। दान फरसा है, बुद्धि प्रचण्ड शक्ति है, श्रेष्ठ विज्ञान कठिन धनुष है। पापरहित और निश्चंचल मन तरकस के समान है। मनोनिग्रह, यम और नियम – ये बहुत-से बाण हैं। गुरु और सन्तों का पूजन अभेद्य कवच है। हे सखे ! ऐसा धर्ममय सुदृढ़ रथ जिसके हो, वह वीर जन्म-मृत्युरूपी महान्, दुर्जय शत्रु को भी जीत सकता है," फिर रावण की तो बात ही क्या !

एवंविध शत शत सुन्दर उपमाओं और दृष्टान्तों के माध्यम से गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस में ब्रह्म-माया, जीव-जगत्, सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, सुख-दुख, पाप-पुण्य, सन्त-असन्त, संन्यास-गार्हस्थ्य, धर्म-अधर्म, नित्य-अनित्य, सत्य-असत्य, ज्ञान-अज्ञान तथा यावतीय मानव-विधाओं का ऐसा सन्तुलित और सर्वांग सम्पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है कि वह यथार्थ ही धर्म और दर्शन का एक विश्वकोश बन गया है।

(आकाशवाणी, रायपुर से ११-४-१९७३ को प्रसारित)
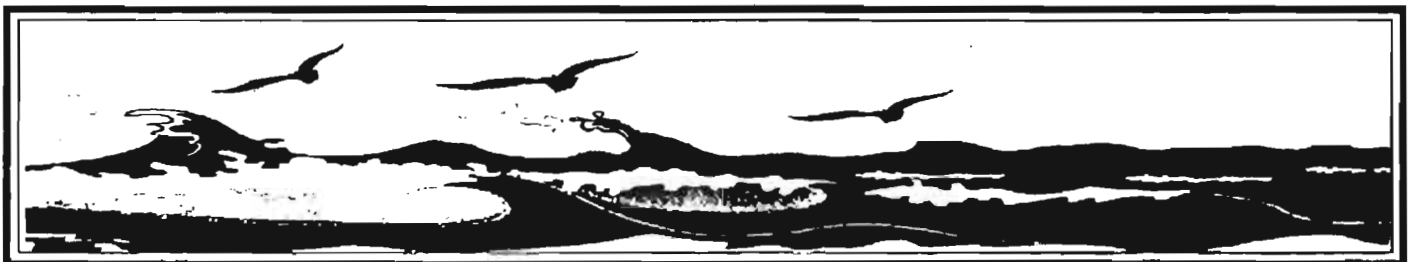
मानवता की झाँकी (२)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'मानवता की झाँकी' नाम से अपने भ्रमण के दौरान हुए उत्कृष्ट अनुभवों को लिपिबद्ध किया था, जो रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। इन प्रेरक व रोचक घटनाओ को हम क्रमश: प्रकाशित कर रहे है। – सं.)

धर्मनिष्ठ गृहस्थ

"यह तो भयंकर काँटेदार बबूल का घना जंगल है, आप इधर कैसे आ गए? अरे पैर में जूते भी तो नहीं हैं! कहाँ जाना है आपको?" – अनजान संन्यासी के उधर जा पहुँचने पर भेंड़-बकरियाँ चरानेवाले दो मुसलमान गड़ेरिये भाइयों ने पूछा। वह महाराष्ट्र के श्रेष्ठ तीर्थ पंडरपुर से चलकर शोलापुर जा रहा था। वर्षा का समय था – सड़क पर नदी का पानी भर जाने से, निरुपाय होकर खेतों में से होते हुए बहुत दूर तक चलने के बाद बाढ़ के पानी का छोर तो मिला, पर एक नाले से गुजरना था, जिसमें छाती तक पानी था। नाला पार करके बबूल के जंगल में जा पहुँचा। उस जंगल में रास्ता तो नहीं था, कहीं कहीं पगडंडी मात्र नजर आती थी, पर सब भयंकर काँटों से भरी थी, पैर रखने के लिए साफ जगह भी देखने में नहीं आ रही थी। 'अब क्या करे' – ऐसा सोच ही रहा था कि उक्त दो मुस्लिम गड़ेरिये भाई आ पहुँचे और वह प्रश्न किया। उनके पैरों में ऊँचे और खूब मोटी तलियोंवाले देशी जूते थे।

संन्यासी – "जाना तो शोलापुर है, पास में कोई गाँव हो तो बताओ; पानी भर जाने से सड़क छोड़ इधर आना पड़ा।"

– "गाँव है तो एक मील दूर, पर आपके पैर में तो जूते नहीं हैं, जाएँगे कैसे?"

फिर दोनों जनों ने आपस में सलाह की। नाले के पास एक छोटा-सा खजूर का पेड़ खड़ा था। उसमें से एक पत्ता काटकर झाड़ू जैसा बना लिया और बोले – "अब आइये, इसी पर पाँव रख-रखकर चलना है, इधर उधर पैर रखने से परेशान हो जाएँगे, यही आपको जंगल पार कराएगा।" बस एक भाई आगे आगे झाड़ू मार काँटे हटाते हटाते चल पड़ा। जंगल की सीमा गाँव की तरफ आधे मील से ज्यादा होगी। रास्ते भर प्रेम से काँटे हटाए और खुला मैदान आने पर सलाम करके बोला – "अब यह पत्ता पकड़कर सीधे चले जाइए। उस पहाड़ी के पास गाँव है, परन्तु यहाँ गोखरू के काँटे हैं, अत: पत्ते को छोड़ इधर उधर पैर मत रखिएगा।" – और वापस लौट गया। संन्यासी ने बड़ा आभार माना, तो कहा – "यह तो फर्ज है, मैंने ज्यादा क्या किया?"

पर इस छोटी सी उक्ति में थी – इंसानियत – मानवता!

संन्यासी धीरे धीरे आगे चलता हुआ जब गाँव के करीब पहुँचा, तो एक और मुसलमान लड़का मिला – आयु १३-१४ रही होगी। उसने बड़े अदब से सलामकर पूछा – "आप इधर कैसे आए? यह तो भयंकर बबूल के जंगल का मार्ग है, शोलापुर की सड़क तो गाँव के उस किनारे से जाती है।"

जब संन्यासी ने सारी बात कह सुनाई तो उसने कहा – "अरे, तब तो आपको आज दिन भर बगैर खाये ही रहना पड़ा होगा।" हाथ में रूमाल से ढकी हुई एक थाली थी, उसे दिखाकर वह बोला, "इसमें तो चावल और सब्जी है, ख्वाजा साहेब पीर को चढ़ाकर ले आ रहा हूँ – पर आप तो हिन्दू संन्यासी हैं, आपको यह नहीं चलेगा, ... मगर फल-दूध तो आप ले सकते हो, क्यों?" फिर "हाँ" – में जबाव मिलने से उत्साहित हो उसने कहा, "तब तो बस, मेरी बकरी दूध देती है और घर में अच्छे पके हुए केले भी बहुत हैं। दूध और केले खाइयेगा। ... अच्छा कहाँ ठहरने का विचार है?" संन्यासी के "जहाँ भी जगह मिलेगी" कहने पर उसने साग्रह कहा – "मस्जिद में ठहरिए। मेरे दादाजी मुल्ला हैं, मैं जाकर उनसे कहूँगा। बहुत मजा रहेगा, बातचीत में आनन्द आएगा।"

तब तक छोटे-से गाँव में जा पहुँचा और उस लड़के के साथ जाकर मस्जिद के चबूतरे पर बैठ गया। वह दौड़कर अपने (मुल्ला) दादाजी को बुला लाया। वृद्ध मुल्ला जी ने आकर स्वागत-सत्कार किया पर कहा, "महाराज, यह गाँव तो मराठे लोगों का है। हम अब केवल ४-५ घर मुस्लिम रह गए हैं, आप तो संन्यासी औलिया हैं, आपकी निगाह में तो न हिन्दू है, न मुस्लिम, परन्तु ये मराठे लोग जब सुनेंगे कि हमने हिन्दू संन्यासी को मस्जिद में ठहराया है, तो रंज करेंगे, झगड़ा भी कर सकते हैं, इसलिए ऐसा करिए कि पहले आप काले के हनुमान मण्डप में जाकर ठहरिए। आपका यह लड़का आपको साथ ले जायेगा और गाँव के पटेल को खबर देकर बुला लाएगा। यदि वे इंतजाम न करें, तो यह मस्जिद है ही।" यह थी ग्राम्य राजनीति की बात – और इसी में बुद्धिमत्ता भी थी।

काले का हनुमान-मण्डप कहिए या गाँव की अतिथिशाला, पर था बिल्कुल गन्दा और वह ऐसा स्थान था कि वहाँ गधे, बकरियाँ आदि मौज से फिरते और कुदरती कृत्य भी करते थे। वहाँ कोई भी न था। उस लड़के ने झाड़ू लगाकर खूब साफ किया, लीद उठा उठाकर फेंकी और फिर पानी के छींटे मार करके संन्यासी का कम्बल बिछा दिया। सामने कुँआ था। पानी खींच हाथ-मुँह धोकर संन्यासी बैठ गया। तभी दो-तीन साथियों सहित ग्राम-प्रधान आ पहुँचा। लड़के ने खबर कर दी थी। लड़का दुभाषिये का काम करने लगा। पटेल के प्रश्नों

का संन्यासी हिन्दी में जो उत्तर दे रहा था, वह उसे पटेल को मराठी में समझाकर पटेल की बातें हिन्दी में समझा रहा था। इस तरह बड़ी देर तक बातें चली – इसमें बहुत मजा था, इन मराठों (ये लोग ही शिवाजी की सेना में रहा करते थे) के साथ मनो-वैज्ञानिक चर्चा का अच्छा अवसर था, पर यहाँ उसकी तथा उन बातों की भी गुंजाइश नहीं है, जो संन्यासी की भोजन व्यवस्था के बारे में हुई। वह बड़ा रसप्रद है, पर यहाँ तो मानवता का अंश मात्र ही लिखना है। पटेल अपने संगियों के साथ संन्यासी के भोजन का प्रबन्ध करने चल दिया।

संध्या जाकर रात आ गयी। अब उस लड़के को वहाँ बैठे रहने की कोई जरूरत नहीं थी, अत: संन्यासी ने उसे घर जाकर भोजन करने और सुबह फिर आकर मिलने को कहा। मगर लड़का बोला – "रोटी खाकर मैं अभी आऊँगा। आप थके हुए हैं – मैं गरम तेल लाकर आपके पैरों में लगाऊँगा – काँटे तो जरूर चुभे होंगे, मैं जानता हूँ गरम तेल लगाने से पकता नहीं है और दर्द भी मिट जाता है। ... दादाजी को कहकर आऊँगा, क्योंकि पटेल आपको न जाने कब बुलाएगा, और कम्बल, कमण्डलु यहाँ ऐसे ही छोड़ जाना ठीक नहीं, कोई उठा ले जाय तो आपको तकलीफ होगी। आपके लौटने तक मैं नजर रखूँगा।" ऐसा कहकर वह चला गया और घण्टे भर में गरम तेल लेकर आ पहुँचा। संन्यासी तो थका-माँदा सो गया था। वह धीरे धीरे पाँवों में मालिश करने लगा, तो जग गया। वह मधुर स्वर में बोला, "आप सो जाइए, मैं मालिश करता हूँ।" संन्यासी फिर निद्रा में डूब गया।

रात के लगभग दस बजे, पटेल हाथ में एक मशाल लिए बुलाने आया। विशालकाय पटेल काले यमदूत जैसा प्रतीत होता था। उसका डील-डौल ऐसा था कि देखते ही भय उत्पन्न हो जाय। मुस्लिम बादशाह जिसे पहाड़ी चूहा कहा करते थे, उसकी मदद करनेवाले ये ही लोग थे।

संन्यासी के आहार आदि करके लौटते रात के ग्यारह से अधिक बजे होंगे, परन्तु वह सुकुमार बालक सजग बैठा था, चौकीदारी कर रहा था।

इतने में उसे बुलाने को उसके दादाजी भी आ पहुँचे। संन्यासी ने उसके इस सेवा-भाव की खूब प्रशंसा की और आशीर्वाद देकर दादाजी के साथ ही जाने को कहा। जाते वक्त उसने कहा – "पर सुबह होते ही ऐसे मत चले जाइयेगा – मैं गरम दूध और पके केले लाऊँगा, उसे खाकर तब जाइयेगा।"

संन्यासी नहा-धोकर तैयार भी हो नहीं पाये थे कि वह दूध और केले लेकर हाजिर हो गया। संन्यासी जब चलने लगे, तो – वह साथ साथ बहुत दूर तक आया और बारम्बार सलाम नमस्कार करके विदा ली।

सुसंस्कारी मानवता का यह था एक उत्कृष्ट निदर्शन !

बुढ़िया माई

पठानकोट (पंजाब) शहर के बाहर एक छोटा-सा शिव-मन्दिर है। सुन्दर स्थान है। वहाँ एक कुण्ड है, जिसमें पानी का उत्स होने से प्रवाह एक छोटी-सी नदी हो गयी है। वर्षा ऋतु होने से पानी का प्रवाह कुछ अधिक था और चारों ओर वनस्पतियों की हरी-भरी शोभा नजर आ रही थी।

संन्यासी भ्रमण करते हुए डलहौजी-चम्बा पहाड़ से उधर आ उतरा था। उस मन्दिर के बगल में एक छोटी-सी कोठरी थी, पुजारी के निर्देश से उसी में जा ठहरा, पर रात में ही उसे ऐसा बुखार चढ़ा कि वह बेहोश हो सारी रात तथा दूसरे दिन शाम के करीब चार बजे तक पड़ा रहा। पुजारी एक पहाड़ी सज्जन थे। उन्हें भी मलेरिया बुखार चढ़ा था और बेहाल पड़े थे। एक पंजाबी बूढ़ी मैया पुजारी की सेवा करके – उनके कहने पर यह जानकर कि कोई संन्यासी आया है, मिलने – माथा टेकने उस कोठरी में गयी। वहाँ संन्यासी को सोया हुआ पाकर समझीं कि नींद में है, पर शाम हो रही है, अत: उठा देना अच्छा है। वे बारम्बार पुकारने लगीं – महाराज, शाम होने लगी, अब कितना आराम करोगे।" इससे संन्यासी होश में आया और मालूम हुआ कि वह इतने समय बेहोश पड़ा था। यह बात ज्ञात होने पर बूढ़ी माँ रो पड़ी, "हाय, हाय, बुखार में यदि भूखे ही रह जाते, यदि ईश्वर-निर्देश से मैं इधर नहीं आती! शहर भर घर घर में सब बुखार में पड़े हैं, मलेरिया बुखार बड़ा खराब है। मैं अभी दूध लाती हूँ, गरम, गरम दूध पीने से जरा होश आयेगा, ठीक रहेगा।" संन्यासी ने उठकर बैठने की कोशिश की पर एक ही रात में इतनी कमजोरी आ गई थी कि उठ न सका। माई ने बड़े प्रेम से पकड़कर बैठा दिया, पानी लाकर सामने रख दिया और बाजार से दूध लाने चल दी। बाजार कुछ दूर था। जब दूध लेकर आयी, तो साथ (उनका) लड़का भी था। वे उसे समझाने लगीं, "ऐसी हालत में कोई हो, तो सेवा करनी चाहिए, यही धरम है। सुबह तड़के आकर देख जाना, दूध दे जाना, बाद में मैं आऊँगी, ... पूछ जाना, कुछ खिचड़ी या रोटी खाने की इच्छा हो तो, मैं आते समय साथ लाऊँगी, खिलाऊँगी, फिर शाम को भी इधर आना, देखभाल कर जाना।"

कई दिन बुखार रहा, पर इस देवी ने संन्यासी को किसी बात की तकलीफ न होने दी, हर तरह से सेवा की। जब वहाँ के आर्यसमाज के अध्यक्ष ने अचानक आकर यह दृश्य देखा, तो तत्काल गाड़ी मँगवाकर समाजगृह में ले गए और सेवा का खास प्रबन्ध कर बड़े प्रेमपूर्वक डाक्टर से इलाज करवाने लगे। ऐसा लगभग दो महीने तक चला। वे वृद्धा माई भी संन्यासी के लिए दूध लेकर वहाँ नित्य आया करतीं।

मानवता का यह उत्कृष्ट नमूना था। ❖ (क्रमश:) ❖

गीता में विश्वरूप-दर्शन

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित मराठी में 'भगवद्गीतांचा अन्तरंगात' अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक प्रकाशन हेतु इसका हिन्दी रूपान्तर किया है श्रीमती ज्योत्सना किरवई ने, जिसे हम जनवरी अंक से क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

समग्र गीता में भगवान ने अर्जुन को क्या बताया है, यह श्री ज्ञानेश्वर ने अपनी चिर-परिचित शैली में एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है। ज्ञानेश्वर कहते हैं –

कल्पना करो कि गुलाब के फूलों की एक माला है, जिसमें अट्ठारह लड़ियाँ है। उन १८ लड़ियों की माला में कुल मिलाकर ७०० गुलाब के फूल गुँथे हुए हैं। उन फूलों से कितने प्रकार की सुगन्ध आएगी? एक ही न! वैसे ही गीता में १८ अध्याय हैं और उन सभी अध्यायों में कुल मिलाकर ७०० श्लोक हैं। उन १८ अध्यायों के ७०० श्लोको में भगवान ने क्या बताया है? – वही 'एक' जिसका कोई 'दूसरा' नहीं है! दूसरा, तीसरा सब उस एक का ही लीला-विलास है। विभिन्न मिथ्या नामों व मिथ्या रूपों में शोभित हो रहे उस एकमेव-अद्वितीय चैतन्यनाथ की तत्त्वकथा ही गीता में बतायी गयी है। वही एक चित्समुद्र नाना कल्लोल-मालिकाओं के विभिन्न तरंगों के रूप में कल्लोल करता हुआ गीता में बताया गया है। भगवान के शब्दों में कहें तो –

मयाततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। ९/४-५

– "हे अर्जुन, तुम स्वयं तथा तुम्हें अनुभव होनेवाले इस सम्पूर्ण जगत् – इन सबमें मैं व्याप्त हूँ और इसीलिए यह सम्पूर्ण चराचर जगत् मुझमें अवस्थित है। परन्तु वस्तुत: मैं भी जगत् में व्याप्त नहीं हूँ और जगत् भी मुझमें अवस्थित नहीं है, क्योंकि जगत् वस्तुत: है ही नहीं। हूँ तो केवल मैं ही – मैं ही नाना रूपों में क्रीड़ा कर रहा हूँ। हे अर्जुन, यही मेरा ईश्वरीय रूप है, मेरा वास्तविक स्वरूप है।" जो एकमेवाद्वितीय सर्वातीत चिन्मय प्रभु हैं, वे ही सर्वगत सर्व-स्वरूप हैं।

– २ –

भगवान द्वारा बताए हुए इस जीवन-विज्ञान, इस जीवन-विद्या, इस दिव्य जीवन-दर्शन को सुनकर अर्जुन कहते हैं – "हे प्रभो, मेरे प्रति अपार प्रेम से प्रेरित होकर, मुझ पर अनुग्रह करके आपने जो अत्यन्त गूढ़ ज्ञान दिया है, उससे मेरा मोह, मेरा अविवेक चला गया है। 'मैं और मेरा' के भ्रम से भ्रमित होकर मैं बड़ा शोकाकुल हो गया था। आपसे मिले स्वानुभव ज्ञान से मैं भलीभाँति समझ गया हूँ कि आप ही इस विश्व के सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयकर्ता हैं, यह सब आपका ही वैभव है – यह विश्व आपकी ही महिमा, आपका ही लीला-विलास है। अब मुझे पूर्णत: विश्वास हो गया है कि 'मैं-मेरा' भ्रम है और 'आप-आपका' ही सत्य है। पर केवल समझने-मानने तक ही सीमित न रहकर, इस राज्य का प्रत्यक्ष 'अनुभव' करने की मेरी प्रबल इच्छा है। अत: हे प्रभो, यदि आपको लगता हो कि मैं इस 'अनुभव' के योग्य हूँ, तो दया करके एक बार मुझे उस परम सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव कराइये।" (११.१-४)

* * *

विभिन्न शंका-प्रतिशंकाओं के पश्चात् अर्जुन के मन में जीवन के इस महान् सत्य के बारे में जीवन्त तथा सुदृढ़ श्रद्धा उत्पन्न हो गयी थी। परन्तु इस 'श्रद्धा' पर न ठहरकर, अर्जुन के अन्त:करण में इस महान् सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई। और अर्जुन की यह इच्छा याने केवल क्षणिक कुतूहल मात्र ही नहीं था। उसकी यह इच्छा यदि केवल कुतूहल मात्र होती, तो ये शब्द उसके मुख से कदापि न निकलते – "यदि आपको लगता हो कि मैं इस 'अनुभव' के योग्य हूँ, तो दया करके एक बार मुझे उस परम सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव कराइये।" कुतूहल व्यक्ति को अधीर बनाता है। अन्त:करण में उत्पन्न उस जीवन्त श्रद्धा के कारण अर्जुन उस सत्य के प्रत्यक्ष अनुभव पाने को व्याकुल हुए, पर अधीर नहीं। व्याकुलता एक चीज है और अधीरता दूसरी।

साधक के साथ ऐसा ही होना चाहिए और सच्चे साधक के साथ ऐसा ही हुआ करता है। श्रद्धा चाहे कितनी ही दृढ़ क्यों न हो, पर सच्चा साधक कभी केवल श्रद्धा पर जीने की इच्छा नहीं रखता। जीवन के जिस महान् सत्य के विषय में उसके अन्त:करण में श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी है, उसके हृदय में उस सत्य का मूर्त साक्षात्कार कर लेने की, प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने की उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है। और यह इच्छा निरी कुतूहल से पूर्णतया भिन्न होती है।

जीवन के चरम सत्य के बारे में श्रद्धा उत्पन्न होने के बाद भी, यदि उसके प्रत्यक्ष अनुभव के लिए ऐसी उत्कट इच्छा या व्याकुलता न उत्पन्न हो, तो कहना पड़ेगा कि वह श्रद्धा सच्ची

श्रद्धा नहीं, वरन् श्रद्धा का आभास मात्र है। भगवान श्रीरामकृष्ण सर्वदा कहा करते थे कि जिसके मन में ऐसी श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है कि एकमात्र ईश्वर ही सत्य हैं और बाकी सब असत्य है, उसे उस एकमेव सत्य-स्वरूप ईश्वर का प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त करने के अलावा क्या कुछ और सूझेगा? श्रीरामकृष्ण एक सुन्दर दृष्टान्त देते थे – यदि किसी चोर को मालूम हो जाय कि बगल के कमरे में सोना रखा है, तो क्या वह हाथ-पर-हाथ रखे शान्त बैठ सकेगा? वह चाहे जिस भी उपाय से क्यों न हो, उस सोने को अवश्य प्राप्त करेगा।

– ३ –

अर्जुन की इस निष्कपट व्याकुल प्रार्थना से भगवान द्रवित हुए। उन्होंने उससे कहा –

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यत् द्रष्टुमिच्छसि ।। ११/७

– "हे अर्जुन, तुम्हारी इच्छा अवश्य पूरी होगी। यह सम्पूर्ण जड़-चेतन विश्व मुझमें ही स्थित है। अब तुम यह देख सकोगे कि मैं ही इस समस्त विश्व का आधार हूँ।" परन्तु हे पार्थ –

न तु मां शक्यसे द्रष्टुम् अनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।। ११/८

– "अभी तुममें अपने तथा जगत् के विषय में जैसा बोध है, वैसा ही रहने तक तुम्हें इस परम सत्य की अनुभूति हो पाना सम्भव नहीं है। मैं अपनी क्षमता से तुम्हें दिव्य बोध – सत्य के अपरोक्ष अनुभूति की शक्ति प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा तुम्हें अनुभव होगा कि मैं एकमेवाद्वितीय सत्-चित्-आनन्द परमात्मा ही विश्व में विभिन्न नाम-रूपों से क्रीडा कर रहा हूँ।"

पूज्यपाद श्री ज्ञानेश्वर अपने 'चांगदेव पासष्टी' के प्रारम्भ में ही इस अवस्था को अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हैं –

स्वस्ति श्रीवटेशु। जो लपोनि जगदाभासु।
दावी, मग ग्रासु। प्रकटला करी ।।
प्रकटे तंव तंव न दिसे। लपे तंव तंव आभासे।

– जब वह चैतन्य हमारे बोध से लुप्त होता है, तभी हमें इस जगत् का आभास होता है। हमारे बोध में उस चैतन्य-सूर्य के उदय के साथ ही इस संसार – इस 'मैं-मेरा' के विस्तार का अस्त हो जाता है। ज्यों ज्यों हमारे बोध में वह एकमेव-अद्वितीय प्रकट होता है, त्यों त्यों इस जगत् का आभास क्षीण होता जाता है और ज्यों ज्यों हमारे बोध से सत्य-स्वरूप का लोप होता जाता है, त्यों त्यों यह जगत् स्फुरित होने लगता है और यह 'मैं-मेरा' वास्तविक प्रतीत होने लगता है।"

तात्पर्य यह कि जब तक यह 'जगदाभास' – यह 'मैं-मेरा' हमारे बोध से चला नहीं जाता, तब तक उस बहु रूपों में खेल रहे एकमेव-अद्वितीय का साक्षात्कार होना असम्भव है।

* * *

ईश्वर के अस्तित्व के विषय में हम सामान्य लोगों को शंका होती रहती है। बहुतों को लगता है कि धार्मिक या आध्यात्मिक अनुभूति केवल हमारी कल्पनाओं का खेल मात्र है। केवल इच्छा मात्र से ही अर्जुन को अत्युच्च आध्यात्मिक बोध देकर भगवान ने सन्देहों से ग्रस्त हम अश्रद्धालुओं को यह आश्वासन दिया है कि ईश्वर के अस्तित्व का बोध, धार्मिक या आध्यात्मिक अनुभूति इतनी सच्ची है कि इसे भी एक पार्थिव या जड़ वस्तु के समान दूसरों को प्रदान किया जा सकता है।

भगवान श्रीरामकृष्ण के विषय में बोलते हुए अमेरिका के न्यूयार्क नगर में एक बार पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्द ने कहा था – "Spirituality can be communicated just as really as I can give you a flower. This is true in the most literal sense. ... For the first time I had found a man (Shri Ramakrishna) who dared to say that he saw God, that religion was a reality to be felt, to be sensed in an infinitely more intense way than we can sense the world. I began to go to that man, day after day, and I actually saw that religion could be given. One touch, one glance, can change a whole life. ... I now found it to be true, and when I myself saw this man (Shri Ramakrishna), all scepticism was brushed aside. It could be done; and my Master (Shri Ramakrishna) used to say: Religion can be given and taken more tangibly, more really than anything else in the world' " – "जैसे मैं तुम्हें एक फूल दे सकता हूँ, वैसे ही, बल्कि उससे भी अधिक प्रत्यक्ष रूप से धर्म भी सम्प्रेषित किया जा सकता है। और यह बात अक्षरश: सत्य है। ... जीवन में मुझे प्रथम बार ही एक ऐसा व्यक्ति (श्रीरामकृष्ण) मिला, जिसने साहसपूर्वक कहा कि 'मैंने ईश्वर को देखा है' तथा 'धर्म एक सच्ची वस्तु है और हम अपनी इन्द्रियों से जगत् का जैसा बोध करते हैं, उससे कहीं अधिक मात्रा में उसका अनुभव कर सकते है। मैं दिन-पर-दिन उनके पास जाने लगा और मुझे प्रत्यक्ष अनुभव होने लगा कि धर्म भी दूसरे को 'दिया' जा सकता है, केवल एक ही स्पर्श या एक ही दृष्टि से पूरा जीवन बदला जा सकता है। ... यह बात अब मुझे सत्य प्रतीत होने लगी और जब मैंने इन महापुरुष (श्रीरामकृष्ण) के दर्शन किए, तो मेरी सारी नास्तिकता दूर हो गई। मेरे गुरुदेव (श्रीरामकृष्ण) कहा करते थे, 'इस संसार में किसी भी ली-दी जानेवाली वस्तु की अपेक्षा धर्म कहीं ज्यादा आसानी से दिया और लिया जा सकता है।"

* * *

वस्तुत: इस रीति से, किसी विशिष्ट प्रयोजन से प्रेरित होकर यथार्थ अधिकारी में इस तरह की अत्युच्च धार्मिक या आध्यात्मिक अनुभूति संक्रमित करना केवल श्रीकृष्ण-रामकृष्ण के समान अवतारों द्वारा ही सम्भव है। अन्य लोगों की तो बात

ही क्या – शास्त्र जिन्हें मुक्त या ब्रह्मज्ञ पुरुष कहता है, ऐसे अज्ञान से साधना द्वारा ज्ञानावस्था प्राप्त करनेवाले जीवों तक के लिए भी यह साध पाना कठिन ही है, तो फिर अन्य साधु-बाबाओं की तो बात ही नहीं उठती। वैसे लोगों की तो जाति ही, श्रेणी ही अलग होती है। धर्म-जगत् का इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि विश्व जिन्हें अवतार कहकर पूजता है, केवल ऐसे लोकोत्तर, अनन्य-साधारण पुरुषोत्तम लोगो के जीवन में ही ऐसी घटनाएँ होती हैं। अत: इस विषय में साधक को सावधान रहना चाहिए, अन्यथा ढोंगी बाबाओं की ठगी का शिकार बनकर धोखा ही हाथ आता है।

– ४ –

तो अर्जुन के इन्द्रियबद्ध बोध को भगवान ने केवल अपनी इच्छा से परिवर्तित कर उन्हें अतिन्द्रिय सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति करा दी –

एवम् उक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ।। ११/९

– "दिव्य दृष्टि या अपरोक्ष अनुभव की शक्ति प्रदान कर मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करता हूँ – ऐसा कहकर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना परम ईश्वरीय रूप – विश्वरूप – दिखाया।"

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः – "हे पार्थ, अब तुम्ह दिखेगा कि मैं ही इस विश्व के सैकड़ों, हजारों – असंख्य रूपों में सुशोभित हूँ" – ऐसा कहकर **बहूनां जन्मनाम् अन्ते** – "अनेक जन्मों की साधना के बाद" साधक को **वासुदेवः सर्वमिति** –"प्रभु ही सब कुछ है" – ऐसी जो अनुभूति होती है, भगवान श्रीकृष्ण ने केवल इच्छा मात्र से अर्जुन को तत्काल उसका बोध करा दिया।

* * *

और फिर इसके बाद अर्जुन का क्या हुआ? उन्हें क्या अनुभव होने लगा?

भगवान की असीम कृपा से अर्जुन की तीसरी आँख – ज्ञान नेत्र खुल गयी। और –

दिव्य-माल्याम्बरधरं दिव्य-गन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवम् अनन्तं विश्वतोमुखम् ।। ११/११

– अर्जुन के चिर-परिचित वसुदेवपुत्र उसकी दृष्टि के सामने से सहसा ओझल हो गये और उनकी जगह अर्जुन को एक परम विस्मयकर मूर्ति आविर्भूत हुई दिखने लगी। उसका सब कुछ अद्भुत था। उसमें तरह तरह की अद्भुत बातें दिख रही थीं। उसके हाथों में अनेक दिव्य आयुध थे। उसने दिव्य मालाएँ और दिव्य वस्त्र पहन रखे थे। उसने दिव्य गन्ध का अनुलेपन कर रखा था। सब कुछ आश्चर्यजनक ! अद्भुत था !

उसकी आभा हजारों सूर्यो से भी अधिक थी। यह स्वाभाविक ही है। एक सूर्य क्या, सौ सूर्य क्या और हजारों सूर्य क्या – आखिरकार सब मिथ्या नाम-रूप ही तो हैं। जिसके अस्तित्व से सूर्य अस्तित्ववान है, जिसके चित्स्वरूप से सूर्य चिद्रूप – प्रकाशमान चमकता है, वे चैतन्य-ज्योति-स्वरूप प्रभु ही अपना कृष्ण रूप त्यागकर उस मूर्ति के रूप में अर्जुन के समक्ष खड़े थे। **तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** – जिसके होने के कारण ही सूर्य, चन्द्र, तारे – सब हैं, जिसके प्रकाश के कारण ही यह सब कुछ प्रकाशमान है, वह इन सूर्य-चन्द्रादि नामों का नामी व रूपों का रूप स्वयंज्योति, चिन्मय आदिपुरुष अर्जुन के बोध में प्रकट हुआ था। अर्जुन को अन्दर-बाहर सर्वत्र वह ज्योतिर्मय ही विलसित होते हुये दीख रहा था। उस चिज्ज्योति के समक्ष, आत्मचैतन्य-ज्योति के समक्ष एक ही नहीं, हजारों सूर्यों की भी क्या बिसात !

* * *

अर्जुन वह मूर्ति देख रहे हैं और इसके साथ उन्हें प्रतीत हो रहा है कि यह ईश्वर ही विश्व के सभी रूपों में सुशोभित है –

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तम् अनेकधा।
अपश्यत् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।। ११/१३

– अर्जुन को ऐसा प्रतीत होने लगा कि विभिन्न नाम व रूपों से परिपूर्ण यह सम्पूर्ण जगत् उन प्रभु की सत्ता में ही स्थित है।

सच्चे और झूठे या मन:कल्पित दर्शन में यही भेद है। सच्चे दर्शन में साधक को 'कुछ दिख तो रहा है' – मात्र इतना ही नहीं होता, बल्कि दर्शन के अनुरूप उसका बोध भी बदल जाता है, उन्नत हो जाता है, अल्पाधिक मात्रा में दिव्य, पवित्र अलौकिक अतिन्द्रिय स्वरूप का होने लगता है। साधक के जीवन पर, चरित्र पर उस दर्शन का गहरा, अमिट प्रभाव पड़ता है। झूठा, नाम के वास्ते या मन:कल्पित दर्शन मन का खेल मात्र है, क्योंकि उसमें देखनेवाले का बोध पूर्ववत् ही रह जाता है; उसमें दिव्यता, पवित्रता, भोग-लालसा में कमी, सत्य-स्वरूप ईश्वर के लिए हृदय में व्याकुलता की उत्पत्ति या पहले की व्याकुलता में वृद्धि आदि, सच्चे दर्शन से अनिवार्यत: संलग्न रहनेवाले उच्च भावों का अभाव ही रहता है।

* * *

इस अभूतपूर्व, अननुभूत अनुभूति से बेचारे अर्जुन बिल्कुल ही हड़बड़ा गये –

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजय।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।। ११/१४

– अर्जुन के विस्मय की सीमा न रही, आनन्द का पारावार न रहा। उनका पूरा शरीर रोमांचित हो उठा। वे उस दिव्य मूर्ति के चरणों में सिर रखकर प्रणाम करके हाथ जोड़े बारम्बार नमस्कार करते हुए प्रभु की स्तुति करने लगे, अपनी भावना, अपना हृदयावेग, अपना आनन्द, स्वयं को होनेवाला जीवन्त 'अनुभव' बड़े विह्वल-गद्गद शब्दों में व्यक्त करने लगे –

"हे प्रभो, हे विश्वेश्वर, हे विश्वरूप, आप अनन्त हैं – मैं जिस जिस रूप को देखता हूँ, वह वस्तुत: आपका ही रूप दिखाई देता है। और इन सब रूपों से परे रहनेवाला अक्षर पुरुष, सनातन पुरुष भी आप ही हैं। आप ही रूपातीत हैं, आप ही विश्वरूप हैं। आप ही अरूप हैं, आप ही सरूप हैं। दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र के पुत्रों और भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि का आप ही नाश कर रहे हैं – आप ही इस विश्व के स्थितिकर्ता, जगन्निवास और आप ही इसके संहर्ता भी हैं। स्थिति-संहार, सुख-दुख, जय-पराजय – सब आपके ही खेल हैं। आपको प्रणाम। अपने बाहर देखता हूँ – वहाँ मुझे सर्वत्र आप ही दिखाई देते हैं; अपने भीतर देखता हूँ – वहाँ भी मुझे आप ही दिखाई देते हैं – **वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम, त्वया ततं विश्वम् अनन्तरूप** – आपके सिवाय कहीं कुछ भी दिखाई नहीं देता – सामने, पीछे, अगल, बगल – सर्वत्र आप ही हैं, सब आप ही हैं, उन सर्व-स्वरूप आपको नमस्कार है – **नम: पुरस्तात् अथ पृष्ठतस्ते, नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व** – प्रभो, मैंने आपको केवल अपना मित्र समझकर, आपके इस स्वरूप महिमा को न जानते हुए अज्ञानवश अनेको बार आपसे हास-परिहास किया है। लोगों के समक्ष आपकी अवमानना भी की है। हे दयानिधान, पिता जैसे अपने पुत्र को, मित्र जैसे अपने मित्र को, प्रेमी जैसे अपनी प्रेमिका को क्षमा करता है, वैसे ही आप भी इस दीन को क्षमा करें। प्रभो, मैं आपका यह अद्भुत रूप देख विमूढ़ हो गया हूँ। अब मुझे ज्ञात हो गया है कि आप कौन हैं। अब कृपा करके आप पुन: अपने उस पुराने 'वासुदेव' रूप में प्रकट हों।

– ५ –

पश्य मे योगमैश्वरम् – मैं एक से ही किस प्रकार अनेक हो गया हूँ, उसे देखो – ऐसा कहकर भगवान ने गीता में जो तत्वज्ञान या जीवन-दर्शन बताया है, इस प्रकार भगवान की दया से अर्जुन को उसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। अर्जुन को जीवन्त बोध हुआ कि 'मैं अर्जुन हूँ', और 'ये मेरे स्वजन-बन्धु हैं' – यह अनुभव सच्चा न होकर, यह सब 'मैं-मेरा' वस्तुत:, स्वरूपत: उन प्रभु का ही लीला-विलास है। 'प्रभो, तुम और तुम्हारा' – यही अपना तथा जगत् का सच्चा स्वरूप है।

अपने प्रिय शिष्य को इस तरह की अनुभूति देकर भगवान उससे कहते हैं – **निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्** – हे अर्जुन, तू निमित्त मात्र बनकर, प्रभु के हाथों को यंत्र-स्वरूप बनकर जीवन-संग्राम में लग जा।

भगवान अर्जुन से कहते हैं – **निमित्तमात्रं भव** – तुम निमित्त मात्र बनो। ऐसा नहीं कहते – **निमित्तमात्रम् असि** – तुम निमित्त मात्र हो। चूँकि वे एक चिन्मय प्रभु ही वस्तुत: हम सब के रूप में क्रीड़ा कर रहे हैं, अत: हम सभी उनके हाथों के यंत्र मात्र हैं। भगवान श्रीरामकृष्ण बारम्बार कहा करते थे – 'मैं यंत्र हूँ और तुम यंत्री' – यही वास्तविक सत्य है। परन्तु यह वस्तु-स्वरूप (truth) है, आज हमारे लिए वह वस्तुस्थिति (fact) नहीं है। इसीलिए श्रीभगवान अर्जुन से कहते हैं – हे अर्जुन, यदि यह सत्य भी हो कि तुम केवल यंत्र हो और यंत्री मैं हूँ, तो भी उसका तुम्हें – साधक को – स्वयं के प्रत्यक्ष बोध में आना आवश्यक है।

यह अनुभूति कैसे आएगी? इस बात का बोध कैसे होगा कि 'मैं-मेरा' का वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है और वह एकमेवाद्वितीय, आनन्दकंद, चैतन्यनाथ ही हमारे 'मैं-मेरा' के रूप में क्रीड़ा कर रहा है? भगवान बताते हैं –

भक्त्या त्वनन्यया शक्य: अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।। ११/५४

– "हे अर्जुन, वस्तुत: मेरे सिवाय, उस एकमेवाद्वितीय प्रभु के अतिरिक्त इस विश्व में कुछ भी नहीं है – यह सत्य तुम स्वयं के हृदय में अनुभव करने की चेष्टा करो। इस अनुभूति से तुम्हारे हृदय में स्वाभाविक रूप से विमल भक्ति का उदय होगा। और ज्यों ज्यों वह शुद्धा भक्ति घनीभूत होती जाएगी, त्यों त्यों तुम्हारी समझ में आने लगेगा कि तुम स्वयं और यह जगत् वास्तव में क्या है। तुम्हें बोध होने लगेगा कि 'मैं-मेरा' नहीं, बल्कि 'तू-तेरा' ही जीवन व जगत् का सच्चा स्वरूप है। इस प्रकार क्रमश: तुम्हें जीवन व जगत् के अन्तिम सत्य का मूर्त साक्षात्कार होगा और तुम सदा के लिए उस सत्य में स्थित हो जाओगे – चिद्विलास का अनावृत अनुभव पाकर तुम सदा के लिए कृतार्थ हो जाओगे, कृतकृत्य हो जाओगे और मुक्त हो जाओगे।"

– ६ –

गीता में यह विश्वरूप-दर्शन का प्रसंग न रहता, तो भी गीता का तत्त्व-'ज्ञान' अधूरा नहीं होता। वह इससे अधूरा नहीं रहा होता, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह दुर्बल रह गया होता! दर्शन की अन्य पुस्तकों तथा गीता में यही भेद है। हमारे आदि धर्मग्रन्थ उपनिषदों पर भगवान श्रीकृष्ण की भाष्यरूप इस गीता का यह 'दर्शन' मात्र बौद्धिक जिज्ञासा तृप्त करनेवाला ज्ञान नहीं है, बल्कि उसका प्रत्यक्ष अनुभव पाकर मानव चिर-कृतार्थ हो सकता है – 'विश्वरूप-दर्शन' का यह सन्देश हमें कितनी स्फूर्ति देता है, हममें कितनी आशा जगाता है!

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

७५. प्रश्न – बुरे संस्कारों को कैसे जीता जा सकता है?

उत्तर – हमें याद रखना चाहिए कि संस्कारों पर एकदम से विजय नहीं पायी जा सकती। उन्हें धीरे धीरे ही बदला जा सकेगा। संस्कारों को बदलने या जीतने के लिए हमें पहले यह जान लेना होगा कि संस्कार बनते कैसे है। हम जब ज़ान-बूझ कर किसी क्रिया को बारम्बार दुहराते हैं, तो वह संस्कार का रूप ले लेती है और तब उसे जान-बूझकर दुहराने की जरूरत नहीं होती, तब तो वह अपने-आप ही हमारे मन में आकर खड़ी हो जाती है और मन-इन्द्रियों को वैसी क्रिया करने में लगा देती है। इस संस्कार को दूर करने के लिए पहले मन के उस ओर के लगाव को समाप्त करना होगा और तत्पश्चात् मन में जब भी वह संस्कार उठे, उसकी उपेक्षा करनी होगी, उसे तरह देना बन्द करना होगा और मन को बलपूर्वक उस संस्कार की विरोधी वृत्ति की ओर मोड़ना होगा।

एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ट किया जाय। मान लीजिए, आप एक कुत्ते को एक दिन प्यार से रोटी का टुकड़ा देते हैं। कुत्ता आपके पास आना शुरू करता है। आपने दूसरे दिन उसे पुन: रोटी दी। यदि इसी प्रकार आप इस क्रिया को कुछ बार और दुहरा दें, तो कुत्ता आपको देखते ही पास दौड़ आएगा, आपसे लिपट जाएगा, आपकी गोद में चढ़ने के लिए मचलेगा। मान लीजिए कि किसी कारणवश कुत्ते का आपके प्रति ऐसा व्यवहार आपको पसन्द नहीं आता, आप अब नहीं चाहते कि कुत्ता आपके पास आए। तब आप क्या करेंगे? सबसे पहले आपको कुत्ते के प्रति अपने लगाव को बन्द करना होगा। केवल यही नहीं, उसे रोटी देना बन्द करना होगा। पर इतने से भी काम न होगा। कुत्ता तब भी आपके पास दुम हिलाता हुआ आएगा, आपसे लिपटने की कोशिश करेगा। तब अपने मन को कठोर बनाकर आपको कुत्ते पर लाठी से प्रहार करना होगा। कुत्ता आपके इस उल्टे व्यवहार से कुछ चकित होगा। लाठी की मार खाकर आपसे दूर चला जाएगा, पर पुन: वह आपके पास दुम हिलाता हुआ आ पहुँचेगा। आपको उस पर पुन: लाठी चलानी होगी। बारम्बार इस प्रकार प्रहार करने पर तब कहीं कुत्ते को ऐसा लगेगा कि आप उसे नहीं चाहते और तब वह आपके पास आना बन्द करेगा।

बुरे संस्कारों के साथ भी ऐसा ही करना पड़ता है। ये संस्कार कुत्ते के जैसे पालतू हो गये हैं। उन्हें हमने अपने सिर पर चढ़ा रखा है। यदि हम उन्हें जीतना चाहते हैं, तो सबसे पहले उनके प्रति अपना मानसिक लगाव दूर करना होगा। उन्हें खिलाना बन्द करना होगा। जैसे, यदि मन में लोभ का संस्कार उठा, तो त्याग की महिमा का चिन्तन करना होगा। मन में त्यागी पुरुषों का विचार उठाना होगा। लोभ-वृत्ति के उठने पर उस पर बारम्बार विवेक का प्रहार करना होगा। लोभ की वृत्ति को हमीं ने बढ़ावा दिया है और अब हमें यह स्पष्ट बता देना होगा कि 'ऐ लोभवृत्ति, हम तुम्हें नहीं चाहते!'

अवांछनीय वृत्ति को दूर करने के लिए योग-सूत्रों के रचयिता महर्षि पतंजलि मन को उसकी विपरीत वृत्ति पर केन्द्रित करने की सलाह देते हैं। इससे हम मन में एक नये संस्कार को जन्म देने में समर्थ होते हैं, जो उस बुरे संस्कार की तीव्रता को शिथिल करते हुए क्रमश: उसका समूल नाश कर देता है। महाबली अर्जुन भी इसी समस्या से ग्रस्त हैं। वे गीता में भगवान कृष्ण से पूछते हैं –

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।। ३/३६

– 'हे वार्ष्णेय! किसके द्वारा प्रेरित होकर, इच्छा न रहते हुए भी, मनुष्य मानो बलपूर्वक पापकर्म में लगा दिया जाता है?'

उत्तर में श्री भगवान कहते हैं –

काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। ३/३७

– 'यह काम है, यह क्रोध है, जो रजोगुण से उत्पन्न होता है। इस बैरी को महापेटू और महापापी जानो।'

यह कहकर भगवान इस बैरी को जीतने का उपाय भी बताते हैं। उनके कथन का सार यह है कि इन्द्रियाँ विषयों से चिपकती हैं, मन इसका रस लेता है और बुद्धि इसे स्वीकृति प्रदान करती है। इसीलिए बुरा संस्कार प्रबल हो जाता है। ऐसे संस्कार को दूर करने के लिए पहले बुद्धि उसे स्वीकार करना बन्द करे, फिर मन अपने लगाव को खींच ले तथा इन्द्रियाँ अपने को विषयों से अलग कर लें।

यह कार्य धीरे धीरे ही साधित होता है। विषयों में भटकते मन को बारम्बार खींचकर भगवान में लगाना चाहिए। इससे बुरे संस्कारों का जोर स्वत: ही कम हो जाता है। इस प्रकार

हम देखते हैं कि अशुभ वृत्ति के उठने पर या तो उस पर विवेक का बारम्बार प्रहार या फिर उसकी एकदम उपेक्षा अथवा विपरीत वृत्ति का चिन्तन, ईश्वर के पास कातर होकर प्रार्थना – ये ऐसे उपाय हैं, जिनका एक साथ सहारा लेकर हम बुरे संस्कारों को जीतने में समर्थ होते हैं।

७६. प्रश्न – गीता पर आपके प्रवचन पढ़े। सुन्दर लगे। पर एक शंका उठी कि जब ब्रह्म सर्वव्यापी और एक है तथा वही एकमात्र सद्वस्तु है, तो यह जीव कहाँ से पैदा हुआ एवं नानात्व को किसने पैदा किया?

उत्तर – इसका उत्तर भी तो उन्हीं प्रवचनों में दिया गया है, पर सम्भव है कि बात स्पष्ट न हो पायी हो। यह सही है कि ब्रह्म सर्वव्यापी तथा एकमात्र सद्वस्तु है, पर जीवत्व और नानात्व का अनुभव भी सही है। पहला कथन सिद्धान्त की दृष्टि से है और दूसरा व्यवहार की दृष्टि से। दोनों में विरोधाभास है। इसे भारत के दार्शनिकों ने पहचाना है और दोनों की ही उपयोगिता मानी है। प्रथम को वे 'पारमार्थिक सत्य' कहते हैं, जिसे हमने गीता-प्रवचनों में 'नित्य-सत्य' कहा है और दूसरे को वे 'व्यावहारिक सत्य' कहते हैं, जिसे हमने 'अनित्य-सत्य' का नाम दिया। सत्ता का एक तीसरा भी पहलू है, जिसे वेदान्त-विदों ने 'प्रातिभासिक सत्य' के नाम से अभिहित किया है तथा जिसे हम 'असत्य' की संज्ञा दे सकते हैं। उदाहरणार्थ, रस्सी में सर्प का भ्रम। सर्प की सत्ता दिखाई तो देती है, पर वह असत्य है। इसको यों व्यक्त करते हैं कि सर्प की सत्ता प्रातिभासिक है। वेदान्त के आचार्य-गण जीवत्व और नानात्व की सत्ता को प्रातिभासिक ही मानते हैं; पर साथ ही यह भी कहते हैं कि जब तक हमें जीवत्व और नानात्व की प्रातिभासिकता का 'बोध' नहीं होता, तब तक हमें उसकी व्यावहारिक सत्ता को मानना पड़ता है। यदि पूछा जाए कि संसार, जो कि जीवत्व और नानात्व का ही दूसरा नाम है, प्रातिभासिक कैसे है, तो इसका उत्तर स्वप्न के दृष्टान्त द्वारा दिया जाता है। जैसे सपने में जाग्रत का संसार नहीं रहता और जागने पर सपने का संसार विलीन हो जाता है, वैसे ही व्यावहारिक सत्ता भी पारमार्थिक सत्ता की तुलना में सपने के समान है। जब हम पारमार्थिक सत्ता में जागते होते हैं अर्थात् निर्विकल्प समाधि की अवस्था में चले जाते है, जिसे तुरीय या चतुर्थ अवस्था के नाम से पुकारा जाता है, तब यह व्यावहारिक सत्ता हमारे लिए स्वप्न के समान विलीन हो जाती है; और जब हम उस तुरीय या समाधि की अवस्था से पुन: इस संसार-भूमि पर वापस आते हैं, तो यही व्यावहारिक सत्ता हमें प्रातिभासिक भासने लगती है। जैसे, हम जादू देख रहे हैं। हमें जादू के खेल सत्य मालूम पड़ते हैं। पर यदि हम स्वयं उन जादू के खेलों को सीख लें, तो वे ही खेल हमें सत्य नहीं, प्रातिभासिक मालूम पड़ेंगे। जादूगर ने हवा से ढेर-के-ढेर तरह तरह के फल निकालकर दे दिये। ये फल हमारे लिए सत्य हैं, पर जादूगर के लिए वे मात्र प्रातिभासिक हैं, और हम भी यदि जादू के उस खेल को सीखकर उसके रहस्य को जान लें, तो वे फल हमारे लिए प्रातिभासिक हो जाएँगे। इसी प्रकार, संसार अभी हमारे लिए पूर्ण सत्य है। पर जब हम साधना और भगवत्कृपा के संयोग से इस संसार के नानात्व का रहस्य जान लेंगे, तो यह हमे प्रातिभासिक ही बोध होगा।

हम प्रतिदिन तीन अवस्थाओं का अनुभव करते हैं – जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। इनमें से हर अवस्था बाकी दोनों का बाध करती है। तात्पर्य यह कि **जाग्रत** स्वप्न और सुषुप्ति का, **स्वप्न** जाग्रत और सुषुप्ति का तथा **सुषुप्ति** जाग्रत और स्वप्न का बाध करती है। अत: ये तीनों अवस्थाएँ ही सापेक्ष हैं और इसीलिए सत्य नहीं हैं। सत्य सदैव निरपेक्ष होता है। जो सत्य आपेक्षिक होता है, वह विज्ञान की दृष्टि में Absolute Truth (चरम सत्य) नहीं हो सकता। जब उक्त तीनों अवस्थाएँ सापेक्ष हैं, तो इससे यह अनुमान होता है कि एक अवस्था ऐसी भी होगी, जो निरपेक्ष है। निरपेक्ष के अस्तित्व के बिना सापेक्ष की धारणा हो ही नहीं सकती। तो, जो अवस्था निरपेक्ष है और जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का आधार है, उसी को 'तुरीय' या 'चतुर्थ' के नाम से पुकारा गया है और उसी को 'ब्रह्म' या 'आत्मा' का भी नाम दिया गया है।

संसार की यह प्रातिभासिक सत्ता उस एकरस-अद्वय-स्वरूप ब्रह्म की ही लीला है। जिस प्रकार असीम और अरूप सागर के वक्ष पर असंख्य रूपवान् और सीमित बुलबुले तैरते रहते हैं, वैसे ही इस अद्वय-एकरस-घन ब्रह्मसागर के वक्ष पर असंख्य रूपवाले छोटे-बड़े पदार्थ भासते रहते हैं। ऐसा क्यो होता है? इसका कोई विचारात्मक उत्तर नही है। भावात्मक उत्तर यह है कि ब्रह्म की अनिर्वचनीय मायाशक्ति ही इस जीवत्व और नानात्व का हेतु है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी अखण्डानन्द जी की स्मृतियाँ

स्वामी अकामानन्द

सन् १९३४ के नवम्बर महीने में नागपुर के रेलवे स्टेशन पर मुझे स्वामी अखण्डानन्द महाराज के प्रथम दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे उस समय मेल द्वारा मुम्बई से कलकत्ता जा रहे थे। उन दिनों मैं नागपुर के एक महाविद्यालय में पढ़ता था और रामकृष्ण मठ के छात्रावास में रहता था। मुम्बई जाते समय पूज्य गंगाधर महाराज (स्वामी अखण्डानन्द) नागपुर पधारे थे और उन्होंने मठ में चार दिन तक वास किया था, परन्तु तब मैं दीपावली की छुट्टियों के कारण वर्धा जिले में स्थित अपने गाँव गया हुआ था। उस समय वह आश्रम बहुत छोटा था – केवल एक ही भवन था, जिसमें एक हाल, एक छोटा-सा कमरा और उससे लगा हुआ मन्दिर था। वस्तुत: वह एक 'रिट्रीट' जैसा था। नाना प्रकार की असुविधाएँ होने के बावजूद महाराज वहाँ चार दिन ठहरे, क्योंकि वे मठ के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भास्करेश्वरानन्द से बड़ा स्नेह करते थे।

मुझे ग्राम में समाचार मिला कि मैं नागपुर जाकर स्वामी अखण्डानन्द महाराज के दर्शन और उनसे दीक्षा प्राप्त करूँ। परन्तु मैं समय पर नहीं जा सका और नागपुर पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि वे मुम्बई के लिए रवाना हो चुके हैं। मठ में उन्होंने केवल एक महिला को मंत्रदीक्षा दी थी, (जो नागपुर आश्रम के अन्तेवासी स्वामी निखिलेश्वरानन्द जी की सम्बन्धी थीं।) छात्रावास में मेरे अतिरिक्त तीन विद्यार्थी और रहते थे। उनकी भी वहाँ दीक्षा नहीं हुई और उन्हें कहा गया था कि वे महाराज जी के स्थायी निवास सारगाछी आश्रम में जाकर वहीं दीक्षा लें।

बचपन से ही मुझे साधु-सन्तों के दर्शन करना बहुत भाता था और इस कारण मैंने अनेक महात्माओं को देखा था। किन्तु जब मैंने स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज को प्रथम बार देखा, तो लगा कि वे उन सबसे भिन्न प्रकार के हैं। सर्वप्रथम तो मुझे उनके नेत्रों ने आकृष्ट किया और वे स्वयं बड़े सीधे-सादे प्रेमी महात्मा थे। उनके मुम्बई से कलकत्ते लौटते समय स्टेशन पर हुई केवल २० मिनटों की उस छोटी-सी मुलाकात ने मेरा मन मोह लिया था और अपने लिए मेरे हृदय में एक स्थायी जगह बना ली थी। उनसे मिलने के बाद ही मैं समझ सका था कि धर्म वास्तव में क्या है। उन्होंने कृपा करके दीक्षा लेने हेतु हमें सारगाछी आने की अनुमति दे दी। तदनुसार नागपुर आश्रम के हम चार विद्यार्थी नियुक्त समय पर हावड़ा स्टेशन पर पहुँच गए और वहाँ हमने पाया कि आगे चलकर स्वामी निरामयानन्द जी होनेवाले श्री विभूति बनर्जी हमारी राह देख रहे हैं। उन्होंने हमारी आगे की – हावड़ा से सारगाछी की यात्रा की व्यवस्था कर दी और शाम तक हम गन्तव्य स्थान पर पहुँच गए।

आश्रम में हम स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज से मिले और हमारे ठहरने के लिए एक कमरा मिल गया। अगले दिन प्रात:काल उन्होंने हमारी कुशल-क्षेम पूछी और हम चारों के साथ बड़ी आत्मीयता के साथ व्यवहार किया। हमें ऐसा लगा कि मानो वे हममें से एक ही हों। जहाँ तक याद है, उन्होंने हमारी दीक्षा के लिए २४ दिसम्बर का दिन निर्धारित किया।

अब धीरे धीरे हमें बाबा (अखण्डानन्द जी को श्रद्धापूर्वक बाबा कहा जाता था।) का सच्चा स्वरूप देखने को मिला। चौबीस तारीख की सुबह को मैंने स्नान किया और दीक्षा के समय बाबा को माला पहनाने के लिए आश्रम के बगीचे में से कुछ अच्छे पुष्प तोड़े। फिर जब मैं माला बना रहा था, तभी उन्होंने देख लिया और मेरे पास आकर पूछा कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैंने उत्तर दिया कि अपने गुरुदेव के लिए एक सुन्दर-सी माला बना रहा हूँ। इस बात पर वे थोड़े नाराज होकर बोले, "यह बगीचा मेरा नहीं है। जो भी कुछ यहाँ तुम देख रहे हो, वह सब श्रीरामकृष्ण का है।" और उन्होंने आदेश दिया कि मैं उस माला को बनाना बन्द कर दूँ और दूसरे पुष्प तोड़कर ठाकुर के लिए एक नयी माला बनाऊँ।

बाद में मुझे समझ में आया कि बाबा में गुरु होने का भाव जरा भी न था और न उनमें यह बोध ही था कि वे उस आश्रम के स्वामी हैं। वे तो स्वयं को सर्वदा वहाँ का केवल प्रबन्धक ही मानते थे। मैंने मन में सोचा – "क्या यह पूर्ण निरहंकारिता की अवस्था नही है, जिसमें 'मैं' और 'मेरा' का पूरा पूरा लोप हो जाता है? जैसा कि श्रीरामकृष्ण सर्वदा कहा करते थे, 'नाहं नाहं तुहू तुहू' अर्थात् मैं और मेरा कुछ नहीं सब कुछ तुम और तुम्हारा (ईश्वर का) है। बाबा भी इसी प्रकार से सदा निराभिमान, पूर्ण ज्ञानी की अवस्था में रहते थे – वे सर्वदा 'श्रीरामकृष्ण-सेवक' के भाव में रहते थे। जब मैंने प्रस्थान-त्रय का अध्ययन किया तथा उसका मर्म समझा, तो यह बात और भी स्पष्ट हो गयी। केवल बाबा ही नहीं, अपितु श्रीरामकृष्ण के सभी पार्षद उन्हीं (ठाकुर) में अवस्थित रहते थे। उनकी अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं थी। वे सभी भलीभाँति जानते थे कि भुवन-मोहिनी महामाया 'मैं' और 'मेरा' के द्वारा अपना विश्व-प्रपंच रचती हैं, अपना खेल खेलती रहती हैं। उनके भुलावे में मुग्ध होकर हम सब अपना वास्तविक स्वरूप विस्मृत कर बैठते हैं और 'मायाबद्ध' होकर न जाने क्या क्या बन बैठते हैं, 'अपना' कहकर न जाने क्या क्या एकत्र करने का भरसक तथा कभी कभी तो हास्यास्पद प्रयास करते रहते हैं।

अखण्डानन्द जी महाराज ने हम चारों को एक एक करके

मन्दिर के बगलवाले कमरे में दीक्षा दी। उनका प्रभाव इतना प्रबल और स्थायी था कि आज इतने वर्षों के बाद भी मुझे ऐसा अनुभव होता है कि वे मेरे सम्मुख ही बैठे हुए हैं और मुझे आध्यात्मिक जीवन सम्बन्धी उपदेश दे रहे हैं और मेरे को अभिमंत्रित कर रहे हैं। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और मेरा आलिंगन किया। यद्यपि उस समय मैं उसका पूरा महत्त्व नहीं समझ पाया था, परन्तु वह सचमुच ही एक अभूतपूर्व अनुभव था।

एक दिन सन्ध्या के समय जब हम बाबा के पास बैठे थे, तब उन्होंने एक ब्रह्मचारी को आवाज दी। (जहाँ तक मुझे याद है, उनका नाम विवेक था।) विवेक उस समय मन्दिर में जप-ध्यान कर रहे थे। बुलाने पर वे झल्लाकर आये और बोले, "मैं जप कर रहा था और आप आवाज दे रहे थे।" तब बाबा ने दूसरे ब्रह्मचारी (सम्भवत: गोविन्द) को बुलाया। वे भी बड़े नाराज होकर आये और उन्होंने भी वही बात कही, जो पहले ब्रह्मचारी ने कही थी।

बाबा ने शान्तिपूर्वक दोनों को समझाया – "तुम जप-ध्यान कर रहे थे और बुलाने पर इतना बिगड़े। तुम्हारा यह गुस्सा होना, क्या तुम्हारे जप-ध्यान का नतीजा है? यदि ऐसा हो, तो वह न तो जप है न ध्यान।" इसके उपरान्त बाबा ने उन दोनों को प्रतिदिन संध्या के समय मन्दिर में दिया-बत्ती जलाना आदि कार्यों में नियुक्त कर दिया।

मुझे ऐसा लगा, मानो इस घटना में साधकों के लिए एक बड़ा सबक है। हमारे धार्मिक क्रिया-कलापों का परिणाम शान्ति-प्रेम, सद्भावना, सहनशीलता आदि होना चाहिए, न कि क्रोध, उत्तेजना, घृणा आदि। इससे शास्त्रों का यह सत्य उजागर हुआ कि यदि हमारे पास काम, क्रोध, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुण हैं, तो ईश्वर हमसे बहुत दूर हैं, चाहे हम कितना ही पूजा-पाठ या जप-ध्यान आदि क्यों न करें।

एक अन्य दिन बाबा ने मुझे कुछ शाक-सब्जियाँ काटने को कहा। मैंने तो वह कार्य कभी नहीं किया था, तो भी उनके आदेश का पालन तो करना ही था। हसिया बहुत बड़ी और तेज धारवाली थी, इस कारण मेरी ऊँगली कट गई और उससे खून बहने लगा। बाबा ने यह देख लिया और एक सेवक को ऊँगली पर दवा लगाकर पट्टी बाँधने को कहा। फिर मुझसे बोले, "मैंने तो तुम्हें सब्जी काटने को कहा था और तुमने ऊँगली ही काट ली! हर काम ध्यान से करना चाहिए। अन्यथा वह कर्मयोग के स्थान पर कर्मभोग हो जाता है, ऐसे किये हुए काम का दुष्फल भोगना पड़ता है। जो भी कार्य करो – चाहे छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा क्यों न हो, उसे पूरा एकाग्रचित्त होकर करो, उसमें रुचि लेकर करो।" आखिरकार **योगः कर्मसु कौशलम्** का तात्पर्य केवल निष्काम कर्म नहीं है, अपितु उसके साथ-साथ उसे सही ढंग से करना, कुशलता के साथ करना भी है। कर्मयोग का यह मर्म मुझे बाबा की कृपा से धीरे धीरे समझ में आ गया।

तत्पश्चात् एक दिन उन्होंने हम लोगों से पूछा कि क्या हम भोजन बनाना जानते हैं? मैंने अपने लिए कहा – "हाँ, जानता हूँ।" और शाम को मराठी कढ़ी और एक सब्जी बना दी। जब वे भोजन कर रहे थे, उस समय मैं उनके पास था। उनको मेरी बनाई हुयी कढ़ी और सब्जी पसन्द आयी और शायद मुझे उत्साहित करने के लिए उन्होंने मेरी प्रशंसा भी की। मौका देखकर मैंने प्रार्थना की, "बाबा, हम बहुत दूर से आए हैं और आपने हमें दीक्षा दी है। श्रीरामकृष्ण ने आपको आशीर्वाद दिया था, अब मेरी विनती है कि आप भी मेरे सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद दें कि मुझे मुक्ति मिल जाय।"

यह सुनकर बाबा कुछ देर चुप रहे, फिर बोले – "ठीक है, मैंने भरपेट भोजन कर लिया है। अब मैं तुम्हारे सिर पर दोनों हाथ रखकर कामना करता हूँ कि इसी प्रकार तुम्हारा पेट भी भर जाय।"

मैं बोला, "ऐसा कैसे हो सकता है, महाराज? अपना भोजन मुझे स्वयं ही करना होगा, तभी तो मेरी भूख मिटेगी।" बाबा बोले, "यही बात आध्यात्मिक क्षेत्र में भी लागू होती है। हमारा आशीर्वाद तो सदैव ही तुम्हारे साथ है, किन्तु तुमको साधना करके उसका पूरा लाभ उठाना होगा। पुरुषार्थ और गुरुकृपा दोनों मिल कर तुम्हें मुक्ति दिलायेंगे।"

हम चारों विद्यार्थी बाबा के साथ दस दिन तक थे। उस समय भक्तों की भीड़ न होने के कारण हमें उनका पूरा सान्निध्य प्राप्त हुआ था। हमें ऐसा लगा कि मानो बाबा हमारे ही हैं और हम भी बाबा के ही हैं।

सारगाछी आश्रम में कुछ अनाथ बालक रहते थे। उन्हें अखण्डानन्द जी महाराज अपने ही बच्चों के समान प्रेम करते थे। वे सभी उन्हें प्यार से 'बाबा' (पिता) कहकर पुकारते थे।

एक दिन एक बालक ने मेरे बटुए में से कुछ पैसे चुरा लिए। मैंने बाबा से इसकी शिकायत की। वे कुछ चिन्तित हो गए और बोले, "इसको तुम एक दूसरी दृष्टि से भी देखने का प्रयास करो। ये अनाथ बालक सड़कों पर बेसहारा मारे मारे फिर रहे थे और उनको यहाँ लाया गया। तुम्हारे तो माता-पिता हैं। वे तुम्हारी सब जरूरतें पूरी करते हैं। इन लड़कों की भी कोई छोटी-मोटी इच्छाएँ हैं, तुम्हारे पास उनको पूरा करने का सामर्थ्य है, इनके पास नहीं है। इस कारण अपनी किसी इच्छा-पूर्ति के लिए उस लड़के ने तुम्हारे बटुए में से पैसे लिए होंगे। यदि तुम स्वयं ही अपने हाथों से उन बालकों को कुछ दे दिया करो, तो वे सब तुम्हारे मित्र बन जाएँगे।" कितनी व्यावहारिकता! कैसा व्यापक दृष्टिकोण था उनका!

उन अनाथ बच्चों की देखभाल किसी अन्य पर न छोड़कर बाबा स्वयं ही करते थे। वे उस कार्य को ठाकुर की ही सेवा मानते थे। 'शिवभाव से जीवसेवा' – नर में नारायण को देखने का उत्कृष्ट उदाहरण हमको वहाँ देखने को मिला।

बाबा के सम्बन्ध में मुझे एक बात और स्मरण हो आती है। जब भी वे हमको उपदेश देते तो उनकी दृष्टि हमारे ऊपर न होकर ऊपर की ओर रहती थी, मानो वे किसी अन्य की ओर उन्मुख होकर बोल रहे हों। नागपुर आश्रम से स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज का विशेष लगाव था। वहाँ के अध्यक्ष स्वामी भास्करेश्वरानन्द जी ने श्री माधव राव गोलवलकर और श्री आर. धोंगड़ी को उनसे दीक्षा लेने के लिए सारगाछी भेजा था। ये दोनों वकालत पास थे और अपने-अपने परिवार के एकमात्र पुत्र थे। श्री माधव राव गोलवलकर सारगाछी आश्रम में छह महीने तक रहे और बाबा के अन्तिम क्षण तक उनकी सेवा की। वैसे बाबा उन्हें छोड़ना भी नहीं चाहते थे। उनकी (अर्थात् बाबा की) महासमाधि के बाद ही श्री गोलवलकर नागपुर वापस आए और फिर बाद में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सर-संघचालक बने। कहना न होगा कि सारगाछी आश्रम में हमारे वे दिन बहुत आनन्द में बीते और उसे छोड़ते समय हम सबको बहुत दु:ख हुआ। अभी भी मेरे मन में ऐसा बोध होता है, महसूस होता है कि बाबा हमारे बीच हैं, हमारे साथ हैं और अदृष्ट रूप में हमें प्रेरित कर रहे हैं। ❏

मोक्ष का पुरुषार्थ

भैरव दत्त उपाध्याय

धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष – जीवन के चार लक्ष्य हैं। इन्हीं के लिए व्यक्ति जीता है, गुरुचरणों में बैठकर पढ़ता है, घर-द्वार बनाता है, साधना करता है, तप करता है और अन्त में मोक्ष चाहता है। युग बदलता गया, पर आज भी जीवन की अन्तिम इच्छा मोक्ष ही है। कहते हैं कि पहले, ऋग्वेद-काल में जीवन का लक्ष्य केवल त्रिवर्ग तक सीमित था। बाद में उसका लक्ष्य मोक्ष तक विस्तृत हुआ। आज हमारे जीवन का लक्ष्य पुरुषार्थ-चतुष्टय है। मोक्ष जीवन का अन्तिम लक्ष्य निर्धारित हो गया है।

दु:खों से चरम निवृत्ति मोक्ष है। जीवन दु:खमय है। जन्म -मरण दु:खमय है। भव बन्धनमय है। संसार-चक्र चलता रहता है। जीव मोहग्रस्त है। माया-मुग्ध है। लोभ-काम-क्रोध आदि की रज्जु का फन्दा उसके गले में लटका है। चौरासी लाख योनियों से निकलकर जीव मनुष्य योनि में आता है। यहाँ चूकने पर पुन: उसी चकरी में घूमता है। यदि परमात्मा की कृपा हो जाय, मोह का बन्धन कट जाय और सारा योग सुयोग में बदल जायँ, तो पुनर्जन्म से छुटकारा मिल सकता है। जीव ईश्वर से एकाकार होकर आनन्द की महाजल-राशि में मिलकर अपने अस्तित्व की इयत्ता मिटा सकता है। घटाकाश महाकाश में, रास-महारास में, आनन्द-महानन्द में, आत्मा-परमात्मा में तथा शिव-परमशिव में विलीन हो सकता है।

वेद-पुराण तथा शास्त्रों के द्रष्टा ऋषियों ने अनेक उपाय बताए हैं। मानव की बुद्धि ने भी अनेक मार्गों का अन्वेषण किया है। गीता-माता से भी बहुत-सी दिशाएँ मिली हैं।

गीता उपनिषदों में एक है, रहस्यमयी विद्या है। गुरु, कृष्ण और शिष्य अर्जुन ने रहस्यों को समझा है। अर्जुन परम गुरु की शरण में गये थे। प्रपन्न होकर परम ज्ञान की याचना की थी। उसका पूरा मोह चला गया – **मोहोऽयं विगतो मम**। इसके पश्चात् भगवान कृष्ण ने अपने योग्यतम शिष्य को परम विद्या का उपदेश दिया। यह परम विद्या, योगविद्या या योग-शास्त्र है। आत्मा-परमात्मा का योग है। यही मोक्षविद्या या मोक्षशास्त्र है। अनुभूति इसकी भूमि है और शास्त्रीयता आधार। वैज्ञानिकता पहचान है। जैसे अनेक नदियों का जल समुद्र में गिरता है, वैसे ही अनेक शास्त्रों का गम्य, प्राप्तव्य, साध्य एकमात्र परमात्मा है। गीता कुछ मार्गों का निर्देश करती है –

१. आत्म-दर्शन-योग : परम् शोक में डूबे अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से कहा – भगवन्, मैं आपका शिष्य हूँ। मुझे बताइये कि मैं इस संकटाकीर्ण राज्य को, जो देवों के लिए भी दुर्लभ है, कैसे प्राप्त करूँ। भगवान बोले – तू आत्मा को पहचान। अपने आप को जान। तू अजन्मा अविकारी, अचिन्त्य, अबध्य, अहन्ता, अव्यक्त, नित्य, पुराण, शाश्वत्, अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अचंचल, और स्थाणु है। सत्, चित् और आनन्दमय है। आत्मा से देह अलग है। नाशवान है। बचपन, यौवन और बुढ़ापा इसे होता है। मृत्यु एवं पुनर्जन्म इसी को होता है। इसके विषय में तू शोक मत कर। धीर पुरुष वही है, जो आत्मा को जानता है और अमृतत्व को प्राप्त करता है – **सोऽमृतत्वाय कल्पते**। (२/१५)

२. स्थितप्रज्ञता योग : स्थितप्रज्ञ होने पर व्यक्ति को परम शान्ति मिलती है, पर स्थितप्रज्ञता क्या है? यह योग है। महती साधना है। इसके साधने से व्यक्ति की बुद्धि स्थित हो जाती है। विभिन्न विषयों की ओर नही दौड़ती। जो स्थिर-मति नहीं हैं, अव्यवसायी हैं, उन्हीं की बुद्धि में अनेक तर्क-वितर्क,

शंका-कुशंकाएँ होती हैं। बहु शाखाएँ और अनन्त शाखाएँ होती हैं। उसका मन संशयशील होता है। वे भोगों में आसक्त, अनेक कामनाओं में लिप्त और नाना क्रियाओं में संलिप्त होते हैं। ऐसे ही लोग स्वर्गकामी एवं सकामकर्मी होते हैं। स्थितप्रज्ञ मुनि निर्द्वन्द्व, नित्यस्वरूप, निष्कामकर्मी तथा सम होते हैं। उन्हें सिद्धि-असिद्धि, हानि-लाभ, जय-पराजय, प्रिय-अप्रिय, आदि के प्रति आसक्ति नहीं होती। वे अपने आप से पूर्ण सन्तुष्ट रहते हैं। उद्वेगों से रहित, स्पृहा से अछूते, द्वेष तथा अभिनन्दन से परे होते हैं। वे प्रसन्नचेता, युक्त और शान्त रहते हैं। वे ही मुक्ति के अधिकारी होते हैं।

३. तृष्णा से मुक्ति : तृष्णा से मुक्ति, कामनाओं से मुक्ति और वासनाओं से छुटकारा, दु:खों से निवृत्ति का अनुपम मार्ग है। महात्मा बुद्ध ने कहा था जीवन दु:खमय है, क्योंकि तृष्णा इसका मूल है। इसे उखाड़ फेंको, तो जीवन में आनन्द की वर्षा होगी। मन में पुत्र, मित्र, घर, वैभव, कुल, जाति, मान, यश, सम्मान आदि की आकांक्षा रहती है। मोह, अहंकार, ममता आदि का वास होता है। जैसे जलाशय आसपास के जल को समेटता है, वैसे ही मन भी कामनाओं को जुटा लेता है। इस कारण उसे शान्ति नहीं मिलती। जिसने कामनाओं को त्यांग दिया है, जो निस्पृह, निर्मम और निरहंकार है; वही परम शान्ति को प्राप्त होता है – **स शान्तिम् अधिगच्छति**। यह निर्वाण की स्थिति है, ब्राह्मी स्थिति है, इसे प्राप्त कर अन्तकाल में भी जीव मोहित नहीं होता। (२/७१-७२)

४. समबुद्धि योग : सम्बुद्धि, समत्व, समता तथा साम्य आदि योग की विधाएँ हैं। जिनके अनुवर्तन से मोक्ष मिलता है। साम्यवादी गीता की विचारधारा को भाववादी कहते हैं। इसमें वस्तुपरकता नहीं है। जीवन का यथार्थ नहीं है। यह असत्य है। यह शाश्वत सत्य है कि पहले भाव परिवर्तन होता है। तदनुरूप क्रियात्मकता आती है। वस्तुत: गीता व्यक्ति की आन्तरिक और बाह्य दोनों स्थितियों में एकरूपता चाहती है। वह ईश्वर-बुद्धि अर्थात् दर्शन तथा रोटी की बात कहती है। इसके उपरान्त व्यवहार स्वयं आ जाता है। हमारा ईश्वर 'सम' है – 'समं ब्रह्म'। इसको जाननेवाला पण्डित समदर्शी होता है। कुत्ता, हाथी या चाण्डाल आदि उसके लिए समान है। जिसका मन 'साम्य' – समता के रंग में रंग गया है। उसी ने संसार को जीता है। उसके लिए सब प्रिय है और वह सभी में सम है। न कोई प्रिय है न कोई अप्रिय। वह सबके लिए प्रिय है। वह परमात्मा सबका मित्र है। कोई उसका शत्रु नहीं है। समबुद्धि वाला व्यक्ति तटस्थ रहता है। वह पुण्य और पाप को समान मानता है। विभिन्न मतवादों में फँसता नहीं। वह निष्काम कर्मयोगी है। उसके मन में न किसी के प्रति आग्रह है न पक्षपात। वह अपनी आत्मा के समान ही सबको समझता है। वह आसक्ति त्याग कर 'सर्वजन-हिताय एवं सर्वजन-सुखाय' कर्म करता है। समस्त प्राणियों में स्थित परमात्मा को देखता है। विनाशी जगत् में समरूप अविनाशी ब्रह्म को जो देखता है, वह सचमुच में द्रष्टा है। यह साम्ययोगी है, वाद-विवाद से परे है। जो व्यक्ति अपने लिए भोजन पकाता-खाता है, वह चोर है, दण्ड का भागी है। इन्हीं धारणाओं का अनुवर्ती सच्चा साम्ययोगी है, साम्यवादी नहीं। समरूप परमात्मा उसी को मिलता है, जिसकी स्थिति समरूप ब्रह्म में होती है। (५/१८-१९; ६/९,३२; १३/२७)

५. यज्ञ-योग द्वारा : सनातन ब्रह्म की प्राप्ति यज्ञरूपी निष्काम कर्म से होती है। यज्ञ का कर्ता, कार्य और कारण – सब कुछ यज्ञमय है। आचरित कर्म अर्पण, हवि, स्नुवा, अग्नि आदि यज्ञमय है। यज्ञरूप है – **यज्ञो वै विष्णु:**। सम्पूर्ण अनुष्ठान उसी परमात्मा को समर्पित है। यज्ञ से जीवन के सारे कल्मष धुल जाते हैं। यज्ञ प्रभु समर्पण का प्रतीक है। सम्पूर्ण विश्व यज्ञमय है। जीवन का अन्तर्जगत् भी यज्ञमय है। समस्त इन्द्रियाँ संयमरूपी यज्ञ में आहुतियाँ हैं। प्राण – श्वास-प्रश्वास भी प्राणायाम की अग्नि को समर्पित है। यज्ञ से विश्व की उत्पत्ति हुई है। देवों ने प्रथम बार पुरुषों को यज्ञ करने का निर्देश दिया था। **द्रव्यमय यज्ञ** – अर्थात् भौतिक यज्ञ तो मात्र प्रतीक रूप है। वास्तविक यज्ञ तो सर्वत्र निरन्तर संचालित है। अत: इस संसार में ऐसे व्यक्ति को कोई स्थान नहीं है, जो यज्ञ से पराङ्मुख हो। जो यज्ञ से अवशिष्ट अन्न का उपभोग करता है, सनातन ब्रह्म उसी को मिलता है।

६. ज्ञानयोग द्वारा : सत्य-असत्य का ज्ञान ज्ञान है। विवेक है। परमात्मा सत्य है। सत् है। चित् और पूर्ण आनन्द है। उसे समझने के लिए विवेक चाहिए। ज्ञान चाहिए। जब ज्ञान आ जाता है, तब प्राणी को मोह का बन्धन नहीं रहता। मोह जड़ता है, अज्ञान हैं। इसके कारण ही जीवन बन्धन में फँसता है। प्रपंच में उलझता है। जन्म-मरण के चक्कर में घूमता है। इसके विनाश का एकमात्र उपाय ज्ञान है। ज्ञान और परमात्मा एकरूप हैं, अभेद हैं। योग उसका व्यावहारिक पक्ष है, क्रियात्मकता है। कार्मिक विद्या है। गीता के चौदहवें अध्याय में ज्ञानों में उत्तम ज्ञान की विवेचना है। ज्ञान से प्रभु की सहधर्मिता मिलती है। इसमें न्यूनाधिक रूप में सांख्य शास्त्र के तत्त्वों का विश्लेषण है। विवेक-ख्याति इसका मूल मंत्र है। क्षर और अक्षर तथा क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का अन्तर समझने वाला व्यक्ति ही पूर्ण ज्ञानी है। ज्ञान का विरोधी काम है। इच्छा और तृष्णा है, जिससे ज्ञान आवृत्त हो जाता है। देही को मोहित करनेवाला है। वह अन्धकार में भटकता है। त्रिगुणमयी माया इसकी जननी है, इस सत्य को जाननेवाला मोह से मुक्त हो जाता है। ज्ञान के समान पवित्र संसार में कुछ भी नहीं है।

ज्ञान श्रद्धा से मिलता है। जिससे जीव को चिर शान्ति मिलती है। ज्ञानी के हृदय में कोई संशय नहीं होता। प्राणी अमर होता है। मोक्ष को प्राप्त करता है।

७. कर्मयोग के द्वारा : जैसे अग्नि ईधन को जलाती है, उसी प्रकार ज्ञान समस्त कर्मों को जला देता है। आशय है कि ज्ञानी को कर्म की जरूरत नहीं होती, पर यह शास्त्र, युक्ति एवं प्रमाण पर आधारित नहीं है, क्योंकि किसी भी अवस्था में कर्मो का निषेध नहीं होता। बिना कर्म के प्राणी का अस्तित्व नहीं होता, सहजात कर्म तो करने ही होते हैं। ऐसी स्थिति में कर्म-संन्यास कर्मों का त्याग नहीं हो सकता। काम्य कर्मों का त्याग, फल की आकांक्षाओं का त्याग संन्यास है। अमुक कर्म से अमुक फल मिलेगा, इसकी आशा न करना ही कर्मयोग है। निष्काम भाव से किया गया कर्म यज्ञकर्म है। यह बन्धनकारी नहीं होता। इसलिए मुक्तसंग हो फलासक्ति-विहीन कर्म करो। ईश्वरार्पित या समाजार्पित कर्म सांसारिक प्रपंचों में नहीं बाँधते। योगी फलासक्ति बिना कर्म करते हैं और उन्हें नैष्ठिक शान्ति मिलती है। (३/४,९; ४/३७; ५/१०,१२; १८/२,५)

८. भक्तियोग : ईश्वर की उपासना, पूजा, ध्यान, चिन्तन, स्मरण, आसक्ति तथा अनुरति भक्ति है। ईश्वर की लीलाओं का ध्यान, अवलोकन, अनुवर्तन, गुणों का गायन और अहैतुकी कृपा का बारम्बार स्मरण, शरणागति भक्ति है। तन्मयता, तादात्मयता, अनन्य-श्रद्धा, भक्ति है। भक्त का लक्षण है –

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते में युक्ततमा मता ।। १२/२

जिन्होंने इन्द्रियों को संयमित किया है। सर्वत्र समबुद्धि रखनेवाले, सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत, भगवत्परायण, प्रभु समर्पित कर्म, नित्य ध्यानरत, निर्द्वन्द्व, निरहंकार, ईश्वर के भक्त हैं। वे ईश्वर को ही प्राप्त हैं। (१२/४)

मैं जितना और जैसा हूँ, भक्ति के द्वारा वे मुझे तत्त्व से जानते और इसके बाद मुझमें प्रवेश करते हैं। हे अर्जुन, सब प्रकार से उसी परमात्मा की शरण में जा। तब मेरे प्रसाद से परम शान्ति व शाश्वत स्थान को प्राप्त करेगा। (१८/५५,६२)

सगुण-भक्ति एवं निर्गुण भक्ति एक है। पर सगुण अपेक्षाकृत सरल व सहज है। आचार्य शंकर ने अद्वैतवादी ज्ञानमत तथा साकार उपासना के आचार्यों ने द्वैतवादी भक्तिमत की स्थापना की। मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य तथा निम्बार्काचार्य आदि इनमें प्रमुख हैं। गीता की अद्वैतवादी और द्वैतवादी व्याख्याएँ हैं। अद्वैतवादी के अनुसार **तत्सत्** का अर्थ है, **तत्** – वह परमात्मा और **सत्** – सत्यरूप है। केवल वह परमात्मा ही सत्य है, शेष जगत् असत्य है – **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** तथा **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**। मोक्ष का आशय – जैसे मठाकाश महाकाश में विलीन होता है, वैसे ही जीवात्मा का परमात्मा में विलीन होना है। द्वैतवादी दृष्टि में उसका यह जगत् भी सत्य है। जीवात्मा 'सत्-चित्-आनन्द' रूप है। भक्त परमात्मा के पास उसके लोक में स्थित होता है। वह परमात्मा से एकाकार होकर अपने दासत्व के अधिकार से वंचित होना नहीं चाहता। वह अपने अस्तित्व को पृथक् मानकर प्रभु के रूप को, लावण्य को देखना चाहता है। इस दर्शन-क्रम की निरन्तरता चाहता है। पुनर्जन्म एवं दु:खों का निवास उसमें नहीं है।

ज्ञान और भक्ति, जीवन की दो धाराएँ हैं। ये मूलत: एक थीं, बीच में विभक्त हो गई। सागर में गिरने से पहले पुन: एक हो गईं। मानव का मस्तिष्क एक है, हृदय भिन्न है। मस्तिष्क का कार्य विश्लेषण है। तर्क है। मीमांसा है। हृदय का कार्य संश्लेषण है। जोड़ना है। मिलाना है। एक का काम पंखुड़ियों को अलग अलग करना है। परखना और समझना है। हृदय संवेदनशील है। कमल के पुष्प को देखना और सौन्दर्य से मोहित होना हृदय का धर्म है। परमात्मा के रूप-लावण्य एवं कौशल पर मुग्ध होकर उनकी अपूर्व छवि पर न्यौछावर होना उसका स्वभाव है। उनकी कृपा का बार बार आभार मानना तथा उनके चरणों में पुष्प अर्पित करना हृदय का गुण है। दोनों का समन्वय प्रकृति की पुकार है। निष्काम कर्म दोनों के बीच एक सेतु है। त्रिवेणी है। संगम इसी से निर्मित होता है।

९. तस्माद् योगी भवार्जुन : भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है – हे अर्जुन, मेरे मत में तपस्वी, ज्ञानी और निष्काम कर्मी – इन सबसे योगी ही श्रेष्ठ है, इसलिए तू योगी बन। जो हृदय से मेरे परायण है, जो श्रद्धावान होकर मुझे ही भजता है, वह मुझे अधिक प्रिय है। इसलिए तेरा योगी होना श्रेयस्कर है। योग की परम्परा पुरानी है, पहले मैंने भासमान सूर्य को इसकी शिक्षा दी थी। फिर सूर्य ने मनु को, तत्पश्चात् इक्ष्वाकु को यह ज्ञान मिला था। अब मैं तुझे यह ज्ञान दे रहा हूँ, क्योंकि तुम मेरे शरणागत, भक्त तथा मित्र हो। (६/४६-४९)

योग क्या है? चित्त की वृत्तियों का निरोध है। जो असंयतात्मा है, उसे योग नहीं मिलता। वश्यात्मा को ही योग मिलता है, जो अपनी आत्मा के समान सबको देखता है और दुख-सुखों से परे है, वह परम योगी है। वैराग्य और अभ्यास के द्वारा जिसने अपनी इन्द्रियाँ को वश में कर लिया है, वही सच्चा योगी है। प्राणायाम तथा ध्यान के द्वारा अपने आप को जिसने जीत लिया है, वह योगी है। युक्ताहार-विहार के द्वारा जिसने अपने मन को जीत लिया है, वह योगी है। निर्भय ब्रह्मचारी और प्रसन्नात्मा तथा परमात्मा के चिन्तन में रत रहनेवाला कर्म में निपुण, निश्चल-बुद्धि, अकामी, आत्मतुष्ट, वीतरागी, निर्भीक, अक्रोधी, शुभ-अशुभ को समान माननेवाला योगी है। एकान्त-साधक एकाग्रचित्त आत्मशुद्ध योगी है। योगी योग से च्युत हो जाने पर श्रीमान् लोगों के घरों में जन्म लेते हैं और अनेक

जन्मों की साधना के उपरान्त मुझे ही प्राप्त करते हैं। यज्ञभाव से किया हुआ कर्म बन्धनकारी नहीं होता। अयोग से दु:ख और योग से परमात्मा की प्राप्ति होती है। जो निष्काम कर्म करता है, आसक्ति को त्यागकर योग की साधना करता है, वह नैष्ठिक योगी है, उसी को शान्ति मिलती है। (५/६,१२,२९)

१०. दैवी सम्पत्ति योग : दैवी सम्पत्तियाँ मोक्ष के लिए हैं और आसुरी बन्धनकारी। दैवी सम्पत्तियों का योग व्यक्ति को मोहपाश से मुक्त कर प्रगति के मार्ग को प्रशस्त करता है। इसमें अतिशयोक्ति नहीं है कि दैवी सम्पत्तियाँ सार्वजनिक एवं सार्वकालिक सत्य की विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हैं, जिनके बिना आत्म-कल्याण तथा विश्व-कल्याण की कल्पना नहीं की जाती। मानव-जाति के लिए गीता की यह देन महत्वपूर्ण है।

दैवी सम्पत्तियाँ मानव व्यक्तित्व के उच्चतम धरातल का स्पर्श करती हैं। प्रगति की अनन्त सम्भावना के द्वार खोलती हैं। मानवता की प्रतीक हैं। ये पशु-प्रवृत्ति के मनुष्यों को देव रूप में ढालने की दिशा देती है। यों तो मनुष्य जन्म से ही दैवी सम्पत्तियों का स्वामी है, परन्तु प्रकृति त्रिगुणमयी माया से ग्रसित है, अत: उसका मार्ग पतन के ढाल से होकर ऊपर की ओर जाता है। अधिकांश लोग ऊपर की ओर नहीं जा पाते, क्योंकि ढलान से नीचे पहुँचना सरल है, ऊपर उठना कठिन है, देवत्व की ओर जाने की अभिप्सा, कठिन साधना और भगवत्कृपा का होना आवश्यक है। पश्चिमी दर्शन नीत्से के मार्ग पर अग्रसर है, जो मानव से महामानव बनने की बात तो करता है, पर उसे पतन की ओर ढकेलता है। वह नर-लाशों पर चढ़कर मीनार तक पहुँचने में संकोच नहीं करता। गीता व्यक्ति को संयम की आग में तपाकर कुंदन बनाना चाहती है, उसका आदर्श है – **सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामया:।** परपीड़ा एवं लोकदमन से भौतिक सम्पत्तियों का संग्रह भारतीय मनीषा को स्वीकार नहीं है। महामानव नींव के पत्थरों से ही चमकता है और अपनी छाती पर मीनारों को ऊपर उठाना चाहता है। हिटलर द्वारा हजारों लोगों को गैस-चेम्बर में बन्दकर मौत के घाट उतारना मानवीय नहीं है। पशुता है। हम मनुष्य हैं। हमें दैवी गुणों की अपेक्षा और आकांक्षा है। इसीलिए दैवी सम्पत्तियों उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया है। (१६/३)

११. अक्षर ब्रह्म के स्मरण का योग : अक्षर ब्रह्म के स्मरण से परम पद मिलता है। अक्षर ब्रह्म का दूसरा स्वरूप है, जिसका क्षरण नहीं होता। जो अविनाशी है। परमात्मा है। अक्षर है। उसे ॐ के नाम से भी जानते हैं। प्रणव भी उसका नाम है। पतञ्जलि के योगशास्त्र में कहा गया है – **तस्य वाचक: प्रणव: तज्जप: तदर्थभावनम्** – ॐ या प्रणव ईश्वर का वाचक है; इसका जप तथा इसके अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। वैदिक मंत्रों का पाठ ॐ से शुरू होता है और लौकिक मंत्रों का पाठ भी ॐ से शुरू होता है। कोई प्राणी यदि प्रणव का उच्चारण करता हुआ सांस छोड़ता है, तो परम गति को प्राप्त होता है –

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
य: प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। ८/१३

समस्त प्रकृति क्षर रूप है, परमात्मा अक्षर रूप है, जो अन्त काल मे उसका स्मरण करते हुए शरीर को छोड़ता है, वह निस्सन्देह मुझे प्राप्त करता है। (८/५-७)

जो अनन्य चित्त तथा नित्य युक्त होकर सदा ईश्वर को भजता है, वह मुझे ही प्राप्त होता है, मैं उसे सुलभ रहता हूँ। सिद्धि प्राप्त हुए महात्मा लोग अनित्य दु:खों के घर रूपी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं करते। हे अर्जुन ब्रह्मलोक से लेकर सम्पूर्ण लोक पुनरावर्ती है अर्थात् उसी लोक मे आते हैं, जिस लोक में जन्म हुआ है। बार बार सृजनशील एवं विनाशशील है। परन्तु हे कुन्तीपुत्र, मुझे प्राप्त करने के उपरान्त उनका पुनर्जन्म नहीं होता। जिसे अव्यक्त अक्षर कहा गया है, उसी को परम गति कहते हैं। परम गति को प्राप्त कर पुनर्जन्म नहीं होता। वह मेरा परम धाम है। जहाँ न सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा। और न अग्नि का प्रकाश होता है। जहाँ जाकर व्यक्ति कभी नहीं लौटता, वही मेरा परम धाम है। परम, परम गति, परम धाम, शान्ति, परम शान्ति, ब्राह्मीभाव, ब्रह्मभूय: आदि शब्द उसी परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। उन्ही को प्राप्त कर मोक्ष मिलता है। (८/१४-१५, १५/६)

१२. गीता माता के ज्ञान से मुक्ति : गीता ज्ञान का शास्त्र है। कर्म और भक्ति की गंगा है। भगवान का घर है। प्रभु उसी का आश्रय लेते हैं। गीता-ज्ञान के बल पर ही वे तीनों लोकों का पालन करते हैं –

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींलोकान् पालयाम्यहम्।।

इससे विष्णुपद अर्थात् परम पद, परम धाम मिलता है – **विष्णो: पदमाप्नोति**। गीता की गंगा का जल पीकर पुनर्जन्म नहीं होता – **गीता गंगोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते**। गीता में कृष्ण के वचन हैं – हे अर्जुन, समस्त प्रपंचो को छोड़कर मेरी शरण में आओ, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों और शोकों से मुक्त कर दूँगा। इस गीता जो पढ़ेगा वह मोह-शोक और अज्ञान से मुक्त हो जाएगा। अर्जुन – मानव का शोक मिट गया। अज्ञान का अन्धकार भाग गया। मानव को पूर्ण मुक्ति मिल गई और आगे भी मिलेगी। (१८/६६,७२)

❑❑❑